अथर्ववेद के आध्यात्मिक सूक्तों का अध्ययन

अथर्ववेद के आध्यात्मिक सूक्तों का अध्ययन

(ग्यारहवें काण्ड के सन्दर्भ में)

अथर्ववेद के आध्यात्मिक सूक्तों का अध्ययन

(ग्यारहवें काण्ड के सन्दर्भ में)

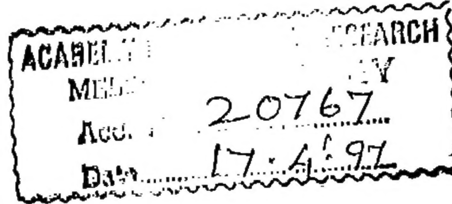
लेखक
डॉ० जितेन्द्र कुमार

जे० पी० पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली

प्रकाशक :
जे० पी० पब्लिशिंग हाउस
के--४४७ प्रेम नगर, नागलोई, (नागम.
दिल्ली – ११००४१

Q 14 (A) 12 J 4 95

प्रथम संस्करण : १९९५



मूल्य : Rs. 100.00 पे

मुद्रक :
चौधरी कम्प्यूटर्स
एक्स–३ए, गली नं० २, ब्रह्मपुरी,
दिल्ली– ११०० ०५३

समर्पण

जिस प्रकार काननस्थ वृक्ष की शाखा एक कुशल बढ़ई के हाथों में आती है तो वह उसे काटकर, छीलकर, तराशकर सुन्दर और आकर्षक बना देता है, उसी प्रकार ऋषिकल्प गुरूओं के हाथों में जब शिष्य आते हैं तो गुरु उन्हें अपने प्रखर बुद्धिरुपी शस्त्र से शास्त्र में प्रवृत्त कराकर संस्कारवान् बना देते हैं, ऐसे ही गुरूओं की श्रृंखला में कल्पनातीत ऋषिकल्प आचार्य डॉ0 कृष्णलाल जी के कर कमलों में यह प्रथम प्रसून सादर सश्रद्ध सप्रश्रय समर्पित ।

जितेन्द्र कुमार

आशीर्वचन

प्रिय जितेन्द्र कुमार जब गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय के अलंकार–कक्षाओं में अध्ययन–रत थे, तब वेदमन्दिर आश्रम में मेरे सान्निध्य में पर्याप्त समय रह चुके हैं। इनकी आर्ष सिद्धान्तों में आस्था तथा वैदिक साहित्य एवं आर्य समाज के प्रति प्रेम और लगन है। ये भाषणों द्वारा भी समाज की सेवा में रुचि रखते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्होंने अथर्ववेद के एकादश काण्ड पर अपनी लेखनी को प्रवृत्त किया है। यह काण्ड अथर्ववेद के दीर्घ कलेवर में यद्यपि छोटा–सा ही है, तथापि प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। वैदिक संहिता–साहित्य में ख्यातिप्राप्त प्राणसूक्त, ब्रह्मचर्यसूक्त तथा उच्छिष्टब्रह्मसूक्त इसी काण्ड की संपत्ति हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्मौदन के रहस्यमय सूक्त पशुपतिसूक्त पापमोचन–सूक्त तथा मन्युसूक्त भी इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं अन्त में शत्रुनिवारण–संबंधी दो सूक्त भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं लेखक ने इस काण्ड में सूक्तों का आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन प्रस्तुत किया है। यह इनका दिल्ली विश्वविद्यालय की एम० फिल्० परीक्षा का लघुशोध प्रबन्ध है। इसकी उत्कृष्टता एवं उपयोगिता इसी से सिद्ध है कि यह वैदिक साहित्य के परम मर्मज्ञ विद्वद्वर आचार्य डॉ० कृष्णलाल जी के निर्देशन में लिखा गया है।

यह लेखक का प्रथम ग्रन्थ है अब ये सस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय से शोध उपाधि पी-एच० डी० के अधिकारी भी हो गये हैं। आशा है भविष्य में भी इनके लेखन-कार्य की धारा चलती रहेगी तथा इनके अन्य ग्रन्थ भी प्रकाश में आयेंगे। इनके प्रति मेरी हार्दिक शुभकामनाएं हैं। प्रभु का आशीर्वाद इन्हें निरन्तर प्राप्त होता रहे।

शुभचिन्तक

डॉ. रामनाथ वेदालंकार
वेदमन्दिर गीता आश्रम
ज्वालापुर (हरिद्वार)
पूर्व-कुलपति, गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

प्राक्कथन

वेद के प्रति जिज्ञासा एवं वेदाध्ययन में रुचि का बीजारोपण मुझमें गुरूकुल एटा के गुरू स्वामी वेदानन्द दण्डी की प्ररेणा से हो गया था। तदनन्तर मेरठ विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर उत्तरार्द्ध के छात्र रूप में (गीता आश्रम) 'हरिद्वार' आवास काल में वेद के मूर्धन्य विद्वान् डॉ० रामनाथ वेदालंकार (पूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार तथा 'प्रोफेसर दयानन्द शोधपीठ पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़' ने शोध विषयक चर्चा करते हुए अथर्ववेद के किसी एक काण्ड का आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन विषय पर कार्य करने का दिङ्‌निर्देश किया।

दिल्ली विश्वविद्यालय में 'दर्शन निष्णात' (एम० फिल्) उपाधि हेतु प्रवेशोपरान्त यह धारणा बलवती होती चली गयी कि अथर्ववेद को विद्वान् अन्य तीनों वेदों की दृष्टि से समतुल्य नहीं देखते तथा उसमें जादू, टोना, मोहन, उच्चाटन, मारण, अभिचारादि कर्मों का ही बाहुल्य स्वीकार कर गम्भीर व सूक्ष्म चिन्तन का अभाव मानते हैं। अतः मेरे मस्तिष्क में यह विचार कोंधने लगा, और मुझे 'दर्शन निष्णात' के लघु शोध प्रबन्ध के लिए 'अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के आध्यात्मिक सूक्तों का अध्ययन विषय पर शोध करना उचित प्रतीत हुआ। जिसमें अध्ययन के उपरान्त अत्यन्त गम्भीर व सूक्ष्म आध्यात्मिक चिन्तन की अजस्र धारा प्रवाहित होती दिखायी दी।

मैंने इस विषय को वैदिक विद्वान् डॉ० कृष्णलाल, तत्कालीन संस्कृत विभागाध्यक्ष, दिल्ली के समक्ष प्रस्तुत किया तो मेरे 'दर्शन निष्णात' के लघु शोध प्रबन्ध का उन्होंने निर्देशक बनना स्वीकार कर लिया। मेरे विनीत आग्रह को अनुमति प्रदान कर विषय को संस्कृत

विभाग से स्वीकृत कराया। अंतः संस्कृत विभाग और उनके प्रति मैं अपना आभार अभिव्यक्त करता हूँ।

समय-समय पर इस लघु शोध प्रबन्ध को गति प्रदान करने में तथा अत्यन्त ही सजगता से परिष्कृत व परिमार्जित करने में और सतत कार्य करने के प्रेरणास्रोत निर्देशक डॉ० कृष्णलाल, का शाब्दिक धन्यवाद नहीं किया जा सकता। पुनरपि मैं उनके कर्त्तव्य परायण जीवन के सम्मुख श्रद्धावनत हूँ।

दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली पुस्तकालय के उन सभी कर्मचारियों को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने मुझे उपयोगी पुस्तकें समय पर उपलब्ध कराकर सहयोग प्रदान किया।

डॉ० प्रशान्त वेदालंकार, प्राध्यापक, हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली का भी मैं आभार मानता हूँ जिन्होंने अपने व्यक्तिगत पुस्तकालय से विषय से संबद्ध पुस्तकें प्रदान कर शोधकार्य में सहायता दी।

इस अवसर पर मेरे अभिन्न मित्र श्री ब्रजेश गौतम व श्री शिवदत्त शास्त्री का आंशिक पुनर्लेखन तथा शोध संबंधी विचार विमर्श द्वारा जो सहयोग प्राप्त हुआ वह भी चिरस्मरणीय तथा सराहनीय है। अतः इनका भी मैं कृतज्ञ हूँ। वेदाध्ययन के लिए सब सुविधाएं देकर प्रोत्साहित करने हेतु मैं अपनी पूज्या माताजी और श्रद्धेय पिताजी का सदा ऋणी रहूंगा।

इस लघु शोध प्रबन्ध के प्रकाशन के लिए मैं श्री जे० पी० यादव का हृदय से आभारी हूँ।

—जितेन्द्र कुमार

शब्द-संक्षेप-सूची

अथर्व० सं०	–	अथर्ववेद संहिता
अथर्व० भा०	–	अथर्ववेद भाष्य
अथर्व परि०	–	अथर्ववेद परिचय
उणादि०	–	उणादिकोश
ऋग्० सं०	–	ऋग्वेद संहिता
ऋग्वेदादि०	–	ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका
ऐ० ब्रा०	–	ऐतरेय ब्राह्मण
कठ० उप०	–	कठोपनिषद्
कौ० सू०	–	कौशिक सूत्र
गो० ब्रा०	–	गोपथ ब्राह्मण
छा० उ०	–	छान्दोग्योपनिषद्
तै० आ०	–	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० उ०	–	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० ब्रा०	–	तैत्तिरीय ब्राह्मण
न्या० सू०	–	न्याय सूत्र
पा० धा०	–	पाणिनीय धातुपाठ
प्र० उ०	–	प्रश्नोपनिषद्
बृ० उ०	–	बृहदारण्यकोपनिषद्
भा० द०	–	भारतीय दर्शन
म० भा०	–	महाभाष्य
मु० उ०	–	मुण्डकोपनिषद्
यजु० सं०	–	यजुर्वेद संहिता
योग० सू०	–	योगसूत्र
वे० सू०	–	वेदान्त सूत्र
वै० सू०	–	वैशेषिक सूत्र
शत० ब्रा०	–	शतपथ ब्राह्मण

श्रीमद्० भा०	–	श्रीमद्भागवत
श्वे० उ०	–	श्वेताश्वेतरोपनिषद्
स० प्र०	–	सत्यार्थप्रकाश
सां० सू०	–	सांख्य सूत्र

भूमिका

चारों वैदिक संहिताओं में अथर्ववेद का महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं आंका जा सकता, यद्यपि बहुत से विद्वान् यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि अथर्ववेद परवर्त्ती है, और जादु टोने के वर्णन से इसका स्तर अन्य संहिताओं की अपेक्षा निम्न है, परन्तु अथर्ववेद और अन्य वेदों का गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन करने से ये दोनों ही धारणाएं प्रमाणित नहीं हो पातीं । अथर्ववेद का विषय वैविध्य इसे वैदिक साहित्य में एक विशिष्ट स्थान प्रदान करता है अन्य विषयों के साथ-साथ अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर गम्भीर दार्शनिक चिन्तन प्राप्त होता है।

अथर्ववेद के अनुवाद का प्रथम प्रयास काण्ड (१से ३ और १४) थिओडोर औफ्रेख्त तथा अल्ब्रेख्त वेबर द्वारा किया गया संयुक्त प्रयास है। यह (१८५०) में प्रारम्भ हुआ और अल्ब्रेख्त वेबर द्वारा सम्पादित 'इंडिशे श्टुडियन' (भारतीय अध्ययन) के कई खण्डों (४, ५, १३, १७) में प्रकाशित होता रहा। परन्तु वह पूर्ण न हो सका।

जे० ग्रिल्ल द्वारा अथर्ववेद के सौ सूक्तों का जर्मनानुवाद (१८८०) में (हुंदर्त लीदर देस अथर्ववेद) नाम से प्रकाशित हुआ।

लुड्विग ने (२३०) सूक्तों का अनुवाद किया। एम० विक्टर हेनरी का (७, १०, ११, १३) काण्डों का फ्रेंच अनुवाद भी (१८९६) में छपा। विलियम ड्वाइट व्हिटने ने सर्वप्रथम सम्पूर्ण अथर्ववेद का अनुवाद किया, परन्तु वह उसकी मृत्यु के पश्चात् (१९०५) में लानमान द्वारा प्रकाशित किया गया।

पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने भी चारों वेदों का भाष्य किया। अथर्ववेद को 'अथर्ववेद का सुबोधभाष्य' नाम से सर्वप्रथम (१९२७) में प्रकाशित किया। सातवलेकर ने तथाकथित जादू टोनों, तावीज–मणियों का प्रयोग आयुर्वेद और औषधि–विज्ञान के अनुसार तर्कपूर्वक समझाया है।

पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अपने व्याख्यानों को

संगृहीत करके पुस्तकाकार किया है। प्रत्येक पुस्तक में दस व्या हैं, जिनको व्याख्यानमाला का नाम दिया है। ऐसी चार पुस्तकें में आई हैं। इनमें चालीस विभिन्न विषयों पर व्याख्यान दिये गये हैं। अतिरिक्त अथर्ववेद के प्रत्येक सूक्त को पृथक् से भी व्याख्यात स्वाध्याय मण्डल पारडी सूरत से प्रकाशित कराया है। यह सूक्त व्याख्या अत्यन्त आध्यात्मिक व युक्तियुक्त है।

अथर्ववेद का बहुप्रचलित हिन्दी अनुवाद क्षेमकरणदास । द्वारा दस वर्ष के परिश्रम से (१६१२--२१) में प्रकाशित किया ग

पं० जगन्नाथ वेदालंकार ने कुन्ताप सूक्त पर आध्यात्मिक लिखा है, जो कि चतुर्वेद प्रकाशन संस्थान, वृन्दावन से प्रकाशि

सायणानुकरण–कर्त्ता आचार्य श्रीराम ने भी अथर्ववेद क का प्रकाशन किया है।

अथर्ववेद संहिता का हिन्दी भाष्य 'गोपाल प्रसाद कौशिक किया गया है। इसको चौखम्बा वाराणसी ने प्रकाशित किया है

पंडित विश्वनाथ विद्यालंकार ने अथर्ववेद पर 'आध्यात्मिक लिखा है, जो मन्त्रागत दार्शनिक सूक्ष्मताओं को रोचक व स्पष्ट वैड़ अभिव्यक्ति देता है। इन्हीं की एक अन्य पुस्तक 'अथर्ववेद परिचय से दयानन्द संस्थान करोलबाग दिल्ली से प्रकाशित है। जिसमें अथर्व विषय वैविध्य के साथ-साथ दार्शनिक चिन्तन के स्रोत दर्शाये गये हैं

मौरिस ब्लूमफील्ड ने 'अथर्ववेद एण्ड द गोपथ ब्राह्मण' न पुस्तक लिखी,जिसका हिन्दी अनुवाद श्री सूर्यकान्त ने किया पुस्तक का प्रकाशन (१६६४) में चौखम्बा संस्कृत सीरीज अं वाराणसी ने किया। इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने अथर्ववेद के : आयामों पर विद्वत्तापूर्ण विचार किया है।

'अथर्ववेद का स्वरूप तथा समय', अथर्ववेद का ऐतिह स्वरूप और इसका गृहसूत्रों से सम्बन्ध, अथर्ववेद के नाम और र अर्थ, अथर्ववेद की शाखाएं, आथर्वण साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा,

के साहित्य में अथर्ववेद का स्थान, अथर्ववेद अपने यांज्ञिक साहित्य की दृष्टि मे, इस प्रकार यह तो प्रथम खण्ड का निदर्शन मात्र हुआ, ऐसे ही तीन खण्ड और है, कुल चार खण्डों में सम्पूर्ण पुस्तक की विषयवस्तु का विभाजन किया है।

डॉ० राजछत्र मिश्र का डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रयाग विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोधप्रबन्ध (१९६८) 'अथर्ववेद मे सास्कृतिक तत्त्व' नाम से पंचनद पब्लिकेशन्स, नया कटरा, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने 'दार्शनिक जीवन' नामक शीर्षक से विद्वत्तापूर्ण विचार व्यक्त किये हैं।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर से उन्नीस सौ तिहत्तर में प्रकाशित अपनी पुस्तक "अथर्ववेद एक साहित्यिक अध्ययन" मे मातृदत्त त्रिवेदी ने "ऋषि कवियों का लोकदर्शन" इस विषय पर विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है।

"ऋग्वेद और अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों का विवेचन (१८८७) में प्रकाशित एल० शेरमन के जर्मन ग्रन्थ में भी हुआ है।

डॉ० गणेशदत्त शर्मा का पी-एच० डी० उपाधि के लिए आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोधप्रबन्ध "ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व" नाम से १९७७ में विमल प्रकाशन, गाजियाबाद से प्रकाशित हुआ है। इसमें ऋग्वेद में दार्शनिक पक्ष पर विद्वत्तापूर्ण विचार व्यक्त किये गए हैं।

अथर्ववेद के सूक्ष्म अध्ययन की प्रवृत्ति का इतिहास पर्याप्त पुरातंन है। १९२७ में बी० सी० लेले ने "सम आथर्वनिक पोर्शन्स इन द गृह्यसूत्राज्" में गृह्यसूत्रों में आये अथर्ववेद के मन्त्रों का अध्ययन पाठान्तर और विनियोग की दृष्टि से किया।

जे० एन० शेंडे की पुस्तक 'द रिलीजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ द अथर्ववेद' अथर्ववेद के क्षेत्र में विशेष महत्त्व की है। १९५२ में प्रकाशित इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने अथर्ववेद के अद्भुत (जादू टोने से सम्बद्ध धर्म का और दार्शनिक सूक्तों) का अध्ययन किया है।

करम्बेलकर ने अपनी पुस्तक 'आयुर्वेद इन द अथर्ववेद' में

वैज्ञानिक आधार पर अथर्ववेद में विद्यमान आयुर्वेद सम्बन्धी तत्त्वों को प्रकाशित किया है।

१९८७ में प्रकाशित "वैदिक दर्शन" में पंडित विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड द्वारा "सृष्टि रचना का वैज्ञानिक क्रम" विषय पर पन्द्रहवें काण्ड के सूक्तों के आधार पर वैज्ञानिक व दार्शनिक विचार किया गया है, जो कि नाग पब्लिकेशन्स, दिल्ली से प्रकाशित है।

१९८१ में प्रकाशित "हिस्टोरीकल एण्ड क्रिटीकल स्टडीज़ इन द अथर्ववेद" नामक पुस्तक में शरद लता शर्मा द्वारा लिखित लेख "काल सूक्त एक विवेचन सम्मिलित है। यह पुस्तक नाग पब्लिकेशन्स से प्रकाशित है।

यद्यपि अथर्ववेद के दर्शन के सम्बन्ध में कुछ शोध कार्य "जैसा कि ऊपर दिखाया गया है" हुआ है, परन्तु ११वें काण्ड के आध्यात्मिक सूक्तों का अलग से विवेचन नहीं किया गया है अतः अपने एम० फिल० लघु शोध प्रबन्ध के लिए वैदिक साहित्य में विशेष रुचि होने के कारण मुझे इस विषय पर शोध कार्य करना आकर्षक और रोचक प्रतीत हुआ।

इस लघु शोध प्रबन्ध को भूमिका के अतिरिक्त ५ अध्यायों में विभाजित किया है। प्रथम अध्याय, अथर्ववेद के विभिन्न नामों की वैदिक वाङ्मय से पुष्टि तथा उसमें वर्णित दार्शनिक स्थलों का प्रकाशन अथवा द्योतन करता है।

द्वितीय अध्याय में सृष्टि विषयक विचार ग्यारहवें काण्ड से वर्णित हैं। जिसमें महाभूतों और मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में विचार किया है।

तृतीय अध्याय में सर्वोच्च सत्ता की विविध नामों द्वारा व्याख्या व सर्वोपरि ब्रह्म की शक्ति का आभास है।

चतुर्थ अध्याय में कर्म–इन्द्रियों के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किये हैं।

पंचम अध्याय में लक्ष्य निर्धारण व प्राप्त्युपाय का वर्णन है। उपसंहार में पांचों अध्यायों का निष्कर्ष दिया गया है।

—जितेन्द्र कुमार

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

अथर्ववेद और उसके दर्शन की रूपरेखा

वेद ज्ञान के अक्षयनिधि के रूप में माने जाते हैं। इसीलिए चारों वेदों के सम्बन्ध में अन्य अनेक उक्तियों के साथ ही साथ "**सर्वज्ञानमयो हि सः।**[1] **तथा सर्वं येदात्प्रसिद्धयृति।**[2] जैसी उक्तियां भी मनु द्वारा उद्घोषित की गयीं।

कुछ विद्वान् आरम्भ में वेदत्रंयी का अस्तित्व ही स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार अथर्ववेद की वेद के रूप में गणना परवर्ती काल में हुई। यदि यह मान भी लिया जाय कि अथर्ववेद अन्य वेदों की अपेक्षा अर्वाचीन है, तो भी प्रश्न होता है कि, अथर्ववेद को ही ऋग्वेदादि के साथ क्यों ग्रहण करते हैं ? इससे सिद्ध है कि अथर्ववेद ऋग्वेदादि के ही समतुल्य है। विद्वान् मानते हैं कि "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः।[3] और "ऋचां त्वः पोषमास्तेपुपुष्वान्"[4] इत्यादि मन्त्रों में अथर्ववेद का ही उल्लेख है।

शतपथ ब्राह्मण के कर्त्ता महर्षि याज्ञक्य एक स्थल पर चारों वेदों का क्रमशः पृथक्-पृथक् नामोल्लेख पूर्वक रूपकालंकार द्वारा ईश्वर-कर्त्तृत्व कहने के लिए ईश्वर का निःश्वसित अर्थात् श्वास ही कह देते हैं।

"ऋग्वेद आदि चारों वेद ऋग्वेद, (यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस")

---

१. मनुस्मृति–२१७

२. वही–१२.६७

३. यजु० सं०–(३१.७)

४. ऋग्० सं०–(१०,७१,११)

है। अथर्वा और अङ्गिरा इस वेद से सम्बद्ध दो ऋषि हैं। अथर्वा नाम ऋग्वेद मे भी कई मन्त्रो मे प्रयुक्त हुआ है।[८]

यास्क ने इसका निर्वचन गत्यर्थक 'थर्व' धातु से नञ् समास करके किया है। इसके अनुसार अथर्वा एक ऐसा योगी है जो चञ्चल इन्द्रियो की गति को नियन्त्रि. करके ...... रखता है। अनेक स्थलो पर यह नाम परमेश्वर का भी वाचक है।[१०]

अङ्गिरा शब्द का प्रयोग भी ऋग्वेद मे हुआ है।[११] इसका निर्वचन यास्क ने अंगार शब्द से दिया है। अंगार (कोयला) अंक धातु से बना, क्योंकि कोयला जहां स्पर्श करता है। उस स्थान को अंकित कर देता है।[१२] इससे अङ्गिरा का सबन्ध अग्नि से स्पष्ट है। इसके अनुसार अग्नि से जला देने वाला या नष्ट कर देने वाला अङ्गिरा है। शतपथ ब्राह्मण मे भी "अङ्गिरस" शब्द लिखा हुआ है।[१३] शतपथ मे ही एक स्थान पर पर आदितत्त्व से श्वास-प्रश्वासवत् चारो वेदो का प्रादुर्भाव कहा गया है। और ऋगादि के साथ अथर्ववेद के लिए अथर्वाङ्गिरस शब्द का प्रयोग किया गया है।[१४]

अथर्ववेद के दो अन्य नाम भी हैं, ...वङ्गिरोवेद तथा भृगुवेद[१५]।

---

८. यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्ते। —ऋग० १.६.५.

६. थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः। —निरुक्त ११.२.१७.

१०. अथर्वा वै प्रजापतिः। —गो० ब्रा० १.४.

११. सोऽङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो भूद् वृषा वृषभिः सखिभिस्सखा सन्। ऋग्० सं० १.१००.४.

१२. अङ्गारेष्वङिगराः। अङ्गारा अङ्कनाः। —निरुक्त ३.१७.

१३. यमाय त्वा...... पितृमते स्वाहेति।। —शत० ब्रा० १४.२.४.१०.

१४. अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्य : ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्वाङ्गिरसः। —शत० ब्रा० १४.५.४.१०.

१५. त्वामग्ने भृगवो नयन्तामङ्गिरसः सदनं श्रेय एहि। कौ सू०—१३७.२४.

है। अथर्वा और अङ्गिरा इस वेद से सम्बद्ध दो ऋषि हैं। अथर्वा नाम ऋग्वेद में भी कई मन्त्रों में प्रयुक्त हुआ है।[८]

यास्क ने इसका निर्वचन गत्यर्थक 'थर्व'[९] धातु से नञ् समास करके किया है। इसके अनुसार अथर्वा एक ऐसा योगी है जो चञ्चल इन्द्रियों की गति को नियन्त्रित करके शान्तचित्त रखता है। अनेक स्थलों पर यह नाम परमेश्वर का भी वाचक है।[१०]

अङ्गिरा शब्द का प्रयोग भी ऋग्वेद में हुआ है।[११] इसका निर्वचन यास्क ने अंगार शब्द से दिया है। अंगार (कोयला) अंक धातु से बना, क्योंकि कोयला जहां स्पर्श करता है। उस स्थान को अंकित कर देता है।[१२] इससे अङ्गिरा का सबन्ध अग्नि से स्पष्ट है। इसके अनुसार अग्नि से जला देने वाला या नष्ट कर देने वाला अङ्गिरा है। शतपथ ब्राह्मण में भी "अङ्गिरस" शब्द लिखा हुआ है।[१३] शतपथ में ही एक स्थान पर पर आदितत्त्व से श्वास-प्रश्वासवत् चारों वेदों का प्रादुर्भाव कहा गया है। और ऋगादि के साथ अथर्ववेद के लिए अथर्वाङ्गिरस शब्द का प्रयोग किया गया है।[१४]

अथर्ववेद के दो अन्य नाम भी हैं, भृग्वङ्गिरोवेद तथा भृगुवेद[१५]।

---

८. यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्ते। —ऋग० १.६.५.

६. थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः। —निरुक्त ११.२.१७.

१०. अथर्वा वै प्रजापतिः। —गो० ब्रा० १.४.

११. सोऽङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो भूद् वृषा वृषभिः सखिभिस्सखा सन्। ऋग्० सं० १.१००.४.

१२. अङ्गारेष्वङ्गिराः। अङ्गारा अङ्कनाः। —निरुक्त ३.१७.

१३. यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाँहेति।। —शत० ब्रा० १४.२.४.१०.

१४. अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्वाङ्गिरसः। —शत० ब्रा० १४.५.४.१०.

१५. त्वामग्ने भृगवो नयन्तामङ्गिरसः सदनं श्रेय एहि। कौ सू०—१३७.२४.

जैसे अङ्गिरा का संबन्ध अग्नि से है वैसे ही भृगु का संबन्ध भी अग्नि से ही है। भृगु को अभिचारादि कर्मों के द्वारा आपत्तियों का शमन करने वाला बताया गया है।[१६]

यास्क ने भृगु का निर्वचन भ्रस्ज पाके (भूनना) से करते हुए बताया है कि भृगु अर्चियों में उत्पन्न होता है अर्थात् तपस्वी, इसका शरीर अच्छी प्रकार कष्टों में भुना हुआ होता है। अतएव इसकी देह में आस्था नहीं होती, वह देह से आत्मा को पृथक् समझता है।[१७] ऋग्वेद में भृगुओं को अथर्वा तथा शान्त स्वभाव का बताया है।[१८] इसी मन्त्र में अङ्गिराओं को सौम्य अर्थात् शान्त कहा है। इन दोनों ही नामों से अथर्ववेद के शान्त रूप का प्रकाशन होता है।

अथर्ववेद का एक नाम क्षत्रवेद भी है। क्षत्रियों तथा राजाओं व राजनीति से संबद्ध तत्त्वों की विद्यमानता के कारण इस वेद का यह नाम पड़ा है। अथर्ववेद में हमें न केवल सभा, समिति, विशः, राज्य, राष्ट्र आदि शब्द प्राप्त होते हैं, प्रत्युत इन तत्त्वों की विशेषताएं, राजा का निर्वाचन, युद्धनीति आदि के सिद्धान्त भी उपलब्ध होते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में उक्थम् (ऋग्)– यजुस्, साम और क्षत्रम् का उल्लेख है।[१९] इससे भी स्पष्ट होता है कि चौथा वेद क्षत्रम् के नाम से पठित अथर्व ही है। किन्तु यह नाम एक पक्ष को ही प्रस्तुत करता है।

अथर्ववेद में उपचार आदि का प्रभूत मात्रा में वर्णन होने से इसका भिषग्वेद भी नाम पड़ा प्रतीत होता है। आयुर्वेद का मूल अथर्ववेद को ही माना जाता है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुतसंहिता में आयुर्वेद को

---

१६. एते हवा अस्य सर्वस्य शमयितारः पालयितारो यद् भृग्वङ्गिरसः।।
कौ०सू०–६४.२.४.

१७. अर्चिषि भृगुः सम्बभूव, भृज्जति तपसा शरीरमिति भृगुः भृज्यमानः, न देहे।
–निरुक्त–३.१७

१८. अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। –ऋग्० सं० १०.१४.६

१९. क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रम् प्राणो हि वै क्षत्त्रं त्रायते। –बृ०उ० ५.१३.१–४

अथर्ववेद का उपवेद का कहा गया है। अथर्ववेद में भी अथर्व के लिए भेषज शब्दप्रयुक्त हुआ है।[२०] यहां भेषज शब्द ऋगादि तीनों वेदों के साथ पठित होने से चौथे अथर्ववेद का ही द्योतन करता है।

अथर्ववेद का एक अन्य नाम भी प्राप्त होता है, जो कि छन्दोवेद के नाम से प्रसिद्ध है। अथर्ववेद में ही अन्य तीनों वेदों के साथ छन्दांसि कहकर अथर्ववेद को संकेतित किया गया है। "**ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह**"। गोपथ ब्राह्मण में भी अथर्ववेद को छन्दोवेद कहने का कारण स्पष्ट किया गया प्रतीत होता है। अथर्ववेद में सभी छन्द हैं।[२१] पुरूष सूक्त चारों वेदों में प्राप्त है, उसका मन्त्र भी इस छन्दोवेद की पुष्टि करता है। मन्त्र का आशय है कि उस सर्वज्ञ पूजनीय परमेश्वर ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और छन्दांसि पद अथर्ववेद का वाचक होने से अथर्ववेद भी परमेश्वर–प्रदत्त व द्वितीय नाम छन्दोवेद का समर्थक है।[२२] सम्भवतः छन्दो वैविध्यपूर्ण बाहुल्य के कारण ही अथर्ववेद को 'छन्दांसि' नाम से अभिहित किया गया है। यास्क और पाणिनि के अनुसार मन्त्र मात्र का बोध छन्दस् शब्द के द्वारा होता है। अतः जैसे अन्य वेदमन्त्र हैं वैसे ही अथर्ववेद के मन्त्र भी हैं।

ब्रह्मवेद के नाम से भी अथर्ववेद को जाना जाता है। इसका आधार ब्रह्मनामक ऋषि के साथ अथर्ववेद के बहुत से सूक्तों का सम्बन्ध है। ब्रह्मा पुरोहित अथर्ववेद का ज्ञाता ही होता है।[२३] यागादि कर्मों को विधिवत् सम्पन्न कराने का उत्तरदायित्व ब्रह्मा का ही होता है। "**अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते इति त्र्यया विद्यया इति ब्रूयात्**"[२४] यहां "त्र्यया विद्या" से यह भी

---

२०. यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वहंसः।। —अथर्व० सं०–११.६.१४

२१. अथर्वणां सर्वाणि छन्दांसि। —गो० ब्रा० १.२९

२२. तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।। —यजु० सं०–३१.७

२३. अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्। —गो० ब्रा० ३.२

२४. ऐ० ब्रा० ५.५.८.

स्पष्ट ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण त्रयी विद्या ब्रह्मा की कार्य साधिका है। अथर्ववेद संहिता के अध्ययन के बिना समग्र त्रयी विद्या का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें होता, अध्वर्यु, और उद्गाता के द्वारा व्यवहार्य मन्त्रों के अतिरिक्त अन्य ऋचाएं यजुष् तथा दूसरे मन्त्र भी हैं।

इसीलिए "**ऋचान्त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्०**"[२५] मन्त्र की व्याख्या करते समय आचार्य यास्क ने भी कहा है कि –"**ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्ववेदितुमर्हति**" ब्रह्मा, सभी वेदों का ज्ञाता होता है, वह सब जान सकता है। अथर्ववेद का ज्ञाता ही ब्रह्मा होता है। और वही यज्ञ की सब प्रकार से रक्षा कर सकता है। गोपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है कि वही विद्वान् यज्ञ की रक्षा कर सकता है, जो भृगु और अङ्गिरा ऋषियों के द्वारा साक्षात्कृत मन्त्रों का ज्ञाता है, समधीत है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला है, उसके शरीर में न तो कोई अंग अधिक हो और न ही कोई कम, वह प्रमादरहित होना चाहिए। जैसे–अगाध जल में नाव डूब जाती है, वैसे ही ब्रह्मा के प्रमाद असान्निध्य और अयोग्यता से यज्ञ डूब जाता है। इसीलिए यजमान को चाहिए कि वह भृग्वङ्गिरोविद् अर्थात् अथर्ववेदी को ही ब्रह्मा बनाये। वही यज्ञ को पार लगाता है।[२६]

सामवेदी भी ब्रह्मा को यज्ञ–वैद्य मानते हैं–"**भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यज्ञ एवंविध ब्रह्मा भवति।**" सामवेद भाष्य भूमिका में सायणाचार्य का भी कथन है–"**त्रयाणामपराधन्तु ब्रह्मा परिहरेत् सदा।**" अन्य तीन ऋत्विजों की त्रुटियों का निवारण ब्रह्मा ही करता है ब्रह्मा के लिए यह तभी सम्भव है जब उसे निश्चित रूप से चारों वेदों का ज्ञान हो, और समग्र त्रयीविद्या से भलीभांति परिचित हो।

---

२५. ऋग्० सं० १०.७१.११.

२६. ब्रह्मैव विद्वान् यद् भृग्वङ्गिरोविद् सम्यगधीयानश्चरित ब्रह्मचर्यो न्यूनातिरिक्ताङ्गोऽप्रमत्तो यज्ञं रक्षति, तस्य प्रमादात् यदि वाऽपि असान्नैध्यात् यथा भिन्ना नौरगाधे महत्युदके सम्प्लवेत् तस्मात् यजमानो भृग्वङ्गिरसमेव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात्, स हि यज्ञं तारयतीति ब्राह्मणम्।। —गोपथ ब्राह्मण

गोपथ ब्राह्मण के पूर्वार्द्ध में भी कहा गया है कि–ऋग्वेदज्ञ को होता बनाओ, यजुर्वेदज्ञ को अध्वर्यु, सामवेदज्ञ को उद्गाता और अथर्ववेदी को ब्रह्मा बनाओ।

प्रजापति ने यज्ञ का विस्तार किया, उन्होंने ऋग्वेद से होता का कार्य सम्पन्न किया, यजुर्वेद से अध्वर्यु का और सामवेद से उद्गाता का तथा अथर्ववेद से ब्रह्मा का।[२७]

ब्राह्मण गन्थों में लिखा है कि **"ऋग्वेदेन होता करोति, यजुर्वेदेनाध्वर्यु सामवेदेनोद्गाता, अथर्वैर्वा ब्रह्मा"** अर्थात् ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्यु, सामवेद से उद्गाता और अथर्ववेद से ब्रह्मा नियुक्त करें।

अथर्ववेद से ब्रह्मा की नियुक्ति के लिए गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि **"अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्' अथर्वाङ्गिरोविद ब्रह्माणम्।** अर्थात् अथर्ववेद से ब्रह्मा होता है। अथर्ववेद को जानने वाला ब्रह्मा होता है।

अथर्ववेद में लिखा है कि जब व्रात्य सर्वोत्कृष्ट दिशा को चला तो ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेद उसके पीछे चले। जो व्रात्य इस प्रकार के स्वरूप को जान लेता है, वह ऋचाओं, सामगन्त्रों, यजुर्मन्त्रों व अथर्वमन्त्रों का प्रिय आश्रय होता है।[२८]

ब्रह्मा के कार्य निर्वाह हेतु अथर्ववेद के अध्ययन का विशिष्ट प्रयोजन ऋगादि अन्य वेदों का अध्ययन किये बिना पूर्ण नहीं हो सकता। अतः अथर्ववेद का अध्ययन करने वाले को ऋग्वेद का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा की नियुक्ति अथर्ववेद से ही होती

---

२७. प्रजापतिर्यज्ञमतनुत, स ऋचैव हौत्रमकरोत् यजुषाध्वर्यवम्
साम्नौद्गात्रम, अथर्वाङ्गिरोभिब्रह्मत्वम्।। —गो० ब्रा०–३.२.

२८. तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्।। —
ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।। —अथर्व० सं०–१५.६.८.

है इसलिए अथर्ववेद का नाम ब्रह्मवेद भी रखा गया है। गोपथ ब्राह्मण में भी लिखा है कि **"चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः सामवेदो, ब्रह्मवेदः।**[२९]

उपर्युक्त समस्त प्रमाण और अन्तर्निहित अर्थ यह प्रमाणित करते हैं कि अथर्ववेद का दूसरा नाम ब्रह्मवेद एक तो ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करने के कारण और दुसरे ब्रह्मा पुरोहित की नियुक्ति का आधार होने के कारण पड़ा प्रतीत होता है। परन्तु यह ब्रह्मवेद नाम भी अथर्ववेद के सभी पक्षों की व्याख्या नहीं करता।

अथर्ववेद बीस काण्ड, सात सौ इकतीस सूक्त तथा पांच हजार नौ सौ सत्तासी मन्त्रों का संग्रह है। इस वेद की नव शाखाएं प्रसिद्ध हैं।[३०] जिनके नाम निम्नलिखित हैं–

१. पैप्पलाद
२. स्तौद (तौद)
३. मौद
४. शौनकीय
५. जाजल
६. जलद
७. ब्रह्मवद
८. देववर्ष
९. चारण वैद्य

उपर्युक्त सभी शाखाओं में से दो ही आजकल उपलब्ध होती हैं। पैप्लाद और शौनकीय। इन दोनों में भी शौनकीय संहिता का अधिक प्रचार है। अथर्ववेद का ब्राह्मण ग्रन्थ गोपथ ब्राह्मण प्राप्त है। इस वेद के आरण्यक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। अथर्ववेद का अथर्ववेद प्रतिशाख्य प्राप्त है। अथर्ववेद के वैतानश्रौतसूत्र तथा कौशिक सूत्र प्रसिद्ध हैं।

---

२९. गो० ब्रा०–२.१६.

३०. नवधाथर्वणो वेदः। महाभाष्य पश्पशाह्निक।

अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्त

अथर्ववेद को जहां सांसारिक साधनों के उपयोग करने का वेद कहा जाता है, वहीं पर अथर्ववेद पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति का मार्ग ज्ञान द्वारा प्रशस्त करता दिखायी पड़ता है। अथर्ववेद में ईश्वर, जीव, प्रकृति, पुनर्जन्म, कर्मव्यवस्था, जीवात्मा का साक्षात्कार, कर्मों के द्वारा विविध योनियां इत्यादि अनेक सूक्ष्म व गहन विषयों पर भी चिन्तन किया गया है।

अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड का प्रथम सूक्त अत्यन्त ही दार्शनिक व गूढ़ विद्या का प्रतिपादन करता है। दृश्य संसार के अन्दर सबका आधारभूत एक तत्त्व है, संसार के पदार्थ दृश्य हैं। मनुष्य का स्थूल देह सब देख सकते हैं, परन्तु उसी देह में रहने वाले गुह्य व गुप्त आत्मा का दर्शन कौन करता है ? परन्तु जितना देह का अस्तित्व सत्य है उससे भी अधिक सत्य देहधारी आत्मा के अस्तित्व में है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् के अन्दर व्यापक गुह्य तत्त्व के विषय में जानना चाहिए और वह गुह्यतत्त्व एकमात्र ब्रह्म ही है कोई अन्य नहीं। जानने की कामना करने वाला ही उसको देखता है।[३१] जिस प्रकार मनुष्य सूर्य को आकाश में प्रत्यक्ष देखता है, उसी प्रकार यह भक्त आत्मा को अपने हृदय में प्रत्यक्ष देखता है। वेन शब्द का अर्थ है जो ईश्वर का भजन पूजन करता है हृदय से उसकी भक्ति करता है। विचार की दृष्टि से उसे जानने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार का ज्ञानी भक्त यहां वेन शब्द से अभिप्रेत है।

"अमृत के धाम को जानने वाला गन्धर्व ही उसका वर्णन कर सकता है।[३२]

---

३१. वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः।।
—अथर्व० सं०—२.१.१.

३२. प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्।
—अथर्व० सं०—२.१.२.

इसमें गन्धर्व शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। गन्धर्व शब्द "सन्त, पवित्रात्मा कोशों में प्रसिद्ध हैं यह शब्द पूर्वोक्त वेन शब्द के अर्थ के साथ मिलता जुलता भी है। तथापि निर्वचन द्वारा "गां वाणीं धारयतीति गन्धर्वः" यह और स्पष्ट होता है। अर्थात् अपनी वाणी को धारण करने वाला सन्त महात्मा आदि। परन्तु वाणी का धारण तो सब करते ही हैं। यहां वाणी का बहुत प्रयोग न करते हुए अपनी वाक् शक्ति का संयम करने वाला अत्यन्त आवश्यकता होने पर ही वाणी का उपयोग करने वाला, यह अर्थ गन्धर्व शब्द सूचित करता है। गौ शब्द बुद्धि का भी वाचक हैं। तब **"गां बुद्धिं धारयतीति गन्धर्वः"** ऐसा निर्वचन होता है, जिसका अर्थ है विशिष्ट बुद्धिशील कोई पुरूष विशेष।

अथर्ववेद के आठवें काण्ड के नौवें सूक्त में संसार में उत्पन्न सभी मनुष्यों के लिए एक ही आराध्यदेव का वर्णन किया है।

इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक ही सर्वव्यापक सबका उपास्य देव है। इसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता है,[३३] क्योंकि इसकी शक्ति सर्वोपरि है। इस सम्पूर्ण सूक्त में एक ही उपास्य देव की महिमा का वर्णन अत्यन्त रोचक ढंग से किया गया है। इसके प्रथम मन्त्र में ही वे दो कहां से उत्पन्न हुए ?[३४] इस प्रश्न के द्वारा स्त्री और पुरूष रयि और प्राण इन दोनों का संकेत हैं। इन दोनों से जगत् की सोम शक्ति और अग्निशक्ति अपेक्षित है। इस सूक्त के ही मन्त्र में 'अग्निषोमौ"[३५] शब्द है। यह शब्द इस जगत् की आग्नेयी शक्ति और सोमशक्ति का वाचक है। इस जगत् को "अग्निषोमीयं जगत्" कहते हैं। क्योंकि इसमें दो ही पदार्थ हैं जो रसात्मक शान्त शक्ति है वह सोम की है और जो उग्र तीव्र तथा उष्ण है वह आग्नेयी शक्ति है। इन दोनों का मूलतत्त्व एक ही है। वह ब्रह्म ही है। ज्ञानी मनुष्य तप से इस ब्रह्म को जानता है।[३६] 'विपश्चित' का अर्थ

---

३३. पृथिव्यां एकवृत् यक्षम् न अतिरिच्यते। —अथर्व० सं०—८.९.२६.
३४. कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः। —अथर्व० सं०—८.९.१.
३५. अग्निषोमावदधुर्या तुरीयासीद्। —अथर्व सं०—८.९.१४.
३६. बह्मैतद् विद्यात् तपसा विपश्चित्। —वही—८.९.३.

है, जो जगत् को विशेष सूक्ष्म दृष्टि से देखता है। जिसमें मन को एकाग्र किया जाता है।[३७] तब विज्ञानी पुरुष को ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

मुक्ति के सबन्ध में अथर्ववेद के काण्ड २ सूक्त ३४ में वर्णित मन्त्र द्रष्टव्य है।

"जो प्रकाशमान बंधे हुए को अनुकूलता के साथ मन से और आंख से देखते हैं, विश्वकर्मा प्रजा से रमने वाला प्रकाशमान देव उनको सबसे पहले मुक्त करे।[३८] स्वयं तेजस्वी होते हुए, तपोनुष्ठान से अपना तेज जिन महात्माओं ने बढ़ाया है, उनको चाहिए कि वे अपने मन से, अन्तःकरण के गहरे भाव से तथा अपनी आंख से बन्धन में फंसे परतन्त्र प्राणियों पर दया की दृष्टि से देखें। अर्थात् यहां केवल आंख से ही देखना नहीं है अपितु अन्तःकरण से उनकी हीन अवस्था को सोचना है, और उनकी सहायता करने के लिए अपनी ओर से जहां तक हो सकता हो वहां तक यत्न भी करना है। जो महात्मा दीनों की सहायता के लिए आत्मसमर्पण करते हैं, वही मुक्ति के प्रथम अधिकारी हैं।

जो ग्रामीण विविध रंग वाले पशु बहुत से रूप वाले होने पर भी एक रूप होने के समान ही हैं। प्रजापालक प्राणदेव उनको पहले मुक्त करे।[३९]

विश्व का रूप अनेक प्रकार का है, विविधिता इस विश्व में स्थान-स्थान पर दिखायी देती है। एक से दूसरा भिन्न और दूसरे से तीसरा भिन्न है। यह भेद की प्रतीति इस जगत् में सर्वत्र है। विभिन्न जगत् में

---

३७. यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम्। —अथर्व० सं०—८.६.३.

३८. ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तो देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः।
—वही—२.३४.४.

३९. ये ग्राम्या पशवो विश्वरुपा विरुपाः सन्तो बहुधैकरुपाः।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः।
—वही—२.३४.४.

दृष्टिगोचर विविधता अभिन्न एक शक्ति से संलग्न है। जो उसे विविधता में भी एक शक्ति का अनुभव करता है, परमात्मदेव उसे मुक्ति प्रदान करते हैं।

मानव मन जब अपने विषय में विचार करता है तब उसे अनन्त ब्रह्म की शक्ति का आभास होने से स्वकर्तव्य का बोध व उद्देश्य का स्मरण होता है तब वह सजग होता है। मैं नहीं जानता जिस प्रकार का यह मैं हो गया हूँ। शरीर में छिपा हुआ और मन से बंधा हुआ मैं विचर रहा हूँ। परन्तु जब सत्य ज्ञान का और प्राकृतिक नियमों का श्रेष्ठ जन्मदाता ब्रह्म मुझे प्राप्त हो जाता है, तदनन्तर ही मैं इन ऋचाओं के सम्बन्ध में जो मेरा यथार्थ भाग मोक्ष है उसे प्राप्त करता हूँ।[४०]

अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र[४१] में भी दार्शनिक विचारों की एक श्रृंखला प्राप्त होती है। इसमें जो 'त्रिषप्ताः' शब्द है वह तीन और सात तत्त्वों का द्योतन कराता है। जिनमें तीन तो मूल प्रकृति रूप हैं, और सात प्रकृति विकृति रूप हैं। अर्थात् प्रकृति भी हैं और विकृति भी, कारण रूप भी हैं और कार्यरूप भी जो कि सब रूपों और आकृतियों को धारण करते हुए सर्वत्र विचर रहे हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीन मूल प्रकृतिरूप हैं जो कि नित्य हैं। इनका कभी विनाश नहीं होता। इस मूल प्रकृति से ही परम्परया समग्र जगत् का निर्माण हुआ है। जगत् में जो ज्ञान और प्रकाश है वह सत्त्वगुण के कारण है, सात्त्विक विचारों और सात्त्विक आचरणों का कारण भी सत्त्वगुण ही है। रजोगुण कारण है क्रिया का उद्यम और उत्साह का। तथा तमोगुण कारण है स्थिरता का, निद्रा का। जीवन में मूलप्रकृति के इन तीनों तत्त्वों की आवश्यकता है। ताकि जीवन में ज्ञान का, सात्त्विक विचारों और सात्त्विक आचरणों का क्रियाशक्ति, उद्यम

४०. न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् ऋचौ अश्नुवे भागमस्याः।
—अथर्व० सं०—६.१०.१५.

४१. ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।। —वही—१.१.१.

और उत्साह का तथा शारीरिक स्थिरता और निद्रा का यथोचित समन्वय हो सके।

महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएं—ये सात प्रकृतिविकृतिरूप हैं। इनमें से महत्तत्त्व, सत्त्व-रजस-तमस् की विकृति है और अहंकार की प्रकृति है। क्योंकि महत्तत्त्व से ही अहंकार पैदा होता है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व अगले-अगले की प्रकृति है और अगला-अगला अपने से पूर्व पूर्व की विकृति है। प्रकृति का अभिप्राय है उपादान कारण, और विकृति का अभिप्राय है उस उपादान कारण से-हुआ हुआ कार्य। महत्तत्त्व विशुद्ध सत्त्वमय है, रजस्, और तमस् इसमें लेशमात्र से सम्बद्ध है। महत्तत्त्व विज्ञान स्वरूप है। महत्तत्त्व अपने परिमाण की दृष्टि से अपनी समग्र विकृतियों से महत् है, बड़ा है और अपनी सब विकृतियों में समन्वित है, इसलिए इसे 'महत्' कहा है। इसे हम व्यापक बुद्धि कह सकते हैं। यह समग्र ज्ञानों का भण्डार है। इसी महत्तत्त्व से व्यष्टि चित्तों का निर्माण हुआ है अर्थात् प्रत्येक जीवात्मा के शरीर में जो चित्त हैं वे इसी महत्तत्त्व के परिमाण हैं। इस व्यष्टि चित्त द्वारा जीवात्मा को ज्ञान होता है।

चित्त में जब अहं-भाव अभिव्यक्त होता है तो यह चित्त ही अंहकार कहलाता है। सत्त्व प्रधान अहंकार से मन और ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, और रजः प्रधान-अहंकार से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। तथा तमः प्रधान अहंकार से पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। यह पंचतन्त्रमत्राएं हैं—शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और रूपतन्मात्रा। व्यक्ति को शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस और रूप का परिज्ञान होता है वह इन्हीं तन्मात्राओं के कारण होता है। गीता में लिखा है कि 'शरीर में जब तक इन तन्मात्राओं का स्पर्श रहता है तभी तक शीत–उष्ण, सुख–दुःख की अनुभूति होती है।'[४२] इस प्रकार इन सात प्रकृति विकृतियों द्वारा ज्ञान, अहंभाव, संकल्प–विकल्प, इच्छाएं, राग–द्वेष, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के अपने-अपने कार्य हो रहे हैं। मन्त्रोक्त सात तत्त्वों के ही ये ज्ञान आदि परिणाम हैं।

---

४२. मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। —गीता–२.१४.

उपर्युक्त तीन और सात तत्त्व विकृतिरूप में संसार के समग्र रूपों और आकृतियों में विचर रहे हैं। इन दस तत्त्वों की शक्तियां सभी प्राणियों को प्राप्त हों। अथर्ववेद में रजस् और तमस् का संयुक्त प्रयोग हुआ है और इसका सम्बन्ध मृत्यु के साथ दर्शाया गया है।

मन्त्र में मानव को सम्बोधित करते हुए कहा है कि "तू रजोमार्ग और तमोमार्ग की ओर न जा, इस प्रकार तू मृत्यु को प्राप्त न हो। रजस् और तमस् मार्गों पर चलने से आयु घट जाती है।[४३] तुझे मैं रजोगुण से पार करता हूं, इस प्रकार तुझे मृत्यु से पार करता हूं।[४४] निम्न मंत्र में नव द्वारों वाले तथा हृदय कमल वाले शरीर को तीन गुणों से आवृत कहा है। "त्रिभिर्गुणेभिः' द्वारा त्रिगुणा प्रकृति का स्पष्ट वर्णन है।[४५]

अथर्ववेद के दसवें काण्ड में प्रकृति को 'अङ्ग' नाम से भी कहा गया है।[४६] 'अङ्ग' का अर्थ है 'गतिमान्" ।[४७]

प्रकृति के तीनों गुण अर्थात् सत्त्व, रजस्, और तमस् सदा सदृश परिणामी हैं। सत्त्व सत्त्वरूप में रजस् रजोरूप में तथा तमस् तमोरूप में सदा अर्थात् अणु-अणु में परिणत होते हैं। इस क्रिया को स्वाभाविक विश्लेषण कहते हैं। अर्थात् बिना किसी बाह्य कारण के स्वतः प्रस्फुटित होते रहना।

प्रकृति को अंग इसलिए भी कहते हैं, क्योंकि कार्यजगत् का यह प्रकृति एक अविभाज्य अंग है, अवयव है। प्रकृति को 'अजा' भी कहते हैं, क्योंकि इसका जन्म नहीं होता, यह नित्य रूपा है। जैसे ब्रह्म और जीवात्मा 'अज' हैं, अजन्मा हैं, नित्य हैं, वैसे ही प्रकृति भी अजन्मा तथा नित्य है।

---

४३. रजस्तमो मोप गाः मा प्र मेष्ठाः। —अथर्व० सं०—८.२.१.
४४. पारयामि त्वा रजस उतत्वा मृत्योरपीपरम्। —अथर्व० सं०—८.२.६.
४५. पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। —अथर्व० सं०—१०.८.४३.
४६. क. एकं तदंगं स्कम्भस्य पुराणमनु संविदुः। —वही—१०.७.२६.
ख. यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे। —वही—१०.७.२७
४७. अगि गतौ—पा० धा०

अग्रिम मन्त्र में ब्रह्म की महत्ता का वर्णन करते हुए उसको ओदन शब्द से अभिहित किया गया है। प्रजापति ही ओदन है।[४८]

'जिस ब्रह्म को जीवन में परिपक्व कर लेने पर मोक्ष सम्भव होता है, जो ब्रह्म गायत्री का अधिपति हुआ है, जिस ब्रह्म में विश्व का निरूपण करने वाले वेद निहित रहते हैं। उस आध्यात्मिक ओदन स्वरूप या दयार्द्र हृदय द्वारा उपासक, मृत्यु-सागर से तर जाता है।[४९]

ओदन जैसे शारीरिक उन्नति के लिए ओदन अर्थात् भात् की आवश्यकता होती है, वैसे ही आध्यात्मिक उन्नति के लिए ब्रह्मरूपी ओदन की आवश्यकता है। 'उन्दी क्लेदने' से निष्पन्न ओदन का अर्थ दयार्द्रहृदय ब्रह्म भी हो सकता है।

जीवात्मा के संबन्ध में अथर्ववेद में बड़ी स्पष्ट बात कही गई है, जो कि इस प्रकार से वर्णित हुई है। 'अस्थिरहित जीवात्मा, जो अस्थिवाले शरीर का भरण-पोषण करता है उसने पहला जन्म कब लिया–इसे किसने देखा है ? तथा कर्मभूमि पार्थिव शरीर का जो प्राणरूप और असृक्‌रूप जीवात्मा है वह शरीर के किस स्थान में रहता है, (इसे भी कौन जानता है ?) इस रहस्य के वेत्ता के पास पूछने के लिए कौन पहुंचा हुआ है ?[५०]

इस मन्त्र के द्वारा यह स्पष्ट प्रतिपादित होता है कि जीवात्मा जन्म धारण करता है तथा स्वयं अस्थि आदि प्राकृतिक अवयवों से रहित है, और अस्थियुक्त शरीर का भरण पोषण करता है तथा शारीरिक जीवन में जीवात्मा के कारण ही प्राणों की सत्ता है। यहां पर जीवात्मा को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि –

४८. प्रजापतिर्वा ओदनः। —शत० ब्रा०–१३.३.६.७.

४९. यस्मात् पक्वादमृतं सम्बभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरुपास्तेनौदेनेनातितराणि मृत्युम्।।
—अथर्व० सं०–४.३५.६.

५०. को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत्।।
—वही–६.६.४.

हे जीवात्मन् ! तू दूषित चित्तवृत्तियों का विनाशक है। प्रहार करने वाले विषयों पर तू प्रहार कर सकता है। हिंसक संस्कार वज्रों का तू हिंसक वज्र है।[५१]

हे जीवात्मन् ! तू प्रेरक शक्ति है, तू शरीर में दीप्ति और कान्ति स्थापित करता है। तू शरीर की रक्षा और पालन करता है।[५२]

तू शुक्ल चन्द्रमा के समान ज्योतिर्मय है, तू प्रदीप्त सूर्य के समान ज्योतिर्मय है, तू चमकते तारो के समान ज्योतिर्मय है। तू सर्वथाज्योतिःस्वरूप है।[५३]

जीवात्मा को ज्योतिः स्वरूप कहकर ज्योतिः प्रदाता भी कहा गया है। क्योंकि शरीर को ज्योतिष्मान् करने वाला आत्मा ही है। जीवात्मा को एक रूप में नहीं बांधा जा सकता–यह बात निम्नलिखित मन्त्रों में स्पष्ट होती है–

'हे जीवात्मन् ! तू स्त्री है, और तू पुरूष, तू कुमार होता है और तू ही कुमारी। तू बूढ़ा होकर डण्डा लेकर चलता है। इस प्रकार नानामुखों वाला तू नाना जन्म धारण करता है।[५४]

तू इन पुत्र पुत्रियों का पिता बनता है, और इन्हीं का तू पुत्र बनता है, तू इनका ज्येष्ठ बनता है और कनिष्ठ बनता है, निश्चय से यह एक ही दिव्य जीवात्मा है जो मन अर्थात् चित्त में प्रविष्ट हुआ हुआ कभी पैदा होता है और फिर मरणोपरान्त मातृयोनि में आता है।[५५]

---

५१. दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्यामेनिरसि। —वही—२.११.१.

५२. सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि। —अथर्व० सं०—२.११.४.

५३. शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि। —वही—२.११.५.

५४. त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।
—वही—१०.८.२७.

५५. उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः।
—वही—१०.८.२८.

कर्म-सिद्धान्त

मनुष्य कर्म करता है परन्तु वह उसके फल को नहीं जानता। फल देने वाला परमेश्वर उससे अदृश्य रहता है। इस प्रकार अपने कर्मजाल से घिरा प्राणी बार-बार जन्म लेकर कष्ट भोगता है।[५६]

इसका आशय है कि मनुष्य बिना कर्म के नहीं रह सकता और कर्मों को करते हुए वह उसके परिणाम को उस रूप में नहीं जानता जिस रूप में परिणाम उपस्थित होता है, क्योंकि फल पराधीन होने के कारण कब किस रूप में तथा कर्म की मात्रा के अनुपात से ही प्राप्त होता है, वह कर्मकर्ता उस रूप में नहीं जानता जब कि परब्रह्म परमेश्वर कर्ता से अदृश्य रहता हुआ कर्मों का यथावत् फल प्रदान कर रहा है, अतः पुनः पुनः अपने कर्मों के परिणामस्वरूप ही वह मातृयोनि में आता है।

निम्न मन्त्र में इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मा को कर्मानुकूल विविध शरीर प्राप्त होते हैं। यह बताया गया है।

'मैंने इन्द्रियों के स्वामी अमर जीवात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, जो कर्मानुसार समीप के और दूर के मार्गों पर विचरता रहा है। वह साथ-साथ चलने वाली नस नाड़ियों की ओढ़नी ओढ़े हुए भुवनों में बार-बार आता जाता रहा है।[५७]

जीवात्मा अपने साथ सूक्ष्म शरीर को धारण करता हुआ विरोधी गुण वाले चित्त के साथ द्रष्टा बनकर दृश्य को देखता है।

जीवात्मा पुनर्जन्म में विभिन्न शरीर ग्रहण करता है।

स्वाश्रित सूक्ष्म शरीर और संस्कार समूह द्वारा पकड़ा हुआ अमर जीवात्मा कभी तो नीच गति को प्राप्त होता है, और कभी उच्च गति को।

५६. य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिराविवेश।।
—अथर्व० सं० ६.१०.१०.

५७. अपश्यं गोपामनिपद्यमानमाचरा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः।।
—अथर्व० सं०—६.१०.११.

यह मर्त्य, अर्थात् विनाशी चित्त के साथ एक एक योनि में आता है। जीवात्मा और चित्त दोनों अनादि काल से साथी हैं, विरूद्ध स्वाभाव वाले हैं। विविध स्थानों पर विचरण करते हैं। इनमें से एक अर्थात् जीवात्मा तो चित्त देखता है, परन्तु चित्त जीवात्मा को नहीं देखता।[५८]

जीवात्मा द्रष्टा है और चित्त दृश्य है। द्रष्टा दृश्य को देख सकता है परन्तु दृश्य द्रष्टा को नहीं देख सकता।

'मृत प्राणी का जीवात्मा, स्वाश्रित सूक्ष्म शरीर और संस्कार समूह के साथ विचरता है। जीवात्मा अमर्त्य है, मरता नहीं है। जीवात्मा मर्त्य चित्त के साथ योनियों में जाता है।[५९]

जीवात्मा अपने दिव्य प्रभाव से विभिन्न स्थलों पर जाता है।

'हे जीवात्मा ! तू दिव्य दृष्टि को प्राप्त कर सूर्य में जा। साधारण आत्मा रूप में धर्मकर्मों के अनुसार, तू वायु में, द्युलोक में, पृथिवी पर जा। या जलचर बनकर जलों में जा, यदि वहां जाना तेरे लिए हितकर है या विहित है या औषधि रूप शरीरों में तू दृढ़ स्थिति पा।[६०]

उपनिषद् के अनुसार सूर्यलोक और चन्द्रलोक हैं, सूर्यलोक में जो प्राणी गमन करता है, वह बार-बार जन्म-मरण के चक्र से एक निश्चित परन्तु अनन्तवत् अवधि तक मुक्त हो जाता है।

और जो लोग अपने कर्मों के अनुसार चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं, वे चन्द्र की ही भांति पुनः पुनः सुख भोगकर संसार में आते हैं।[६१]

---

५८. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्।
—अथर्व० सं०—९.१०.१६.

५९. जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। —वही—९.१०.८.

६०. सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः।
—वही—१८.२.७.

६१. सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।
—मुण्डकोपनिषद्—१.२.११.

इसी को अथर्ववेद में देवयान के नाम से वर्णित किया गया है। प्राणायाम की विधि को जानते हुए ध्यानी शरीर में सर्वत्र विचरते हुए प्राणों को अंगों से निकालकर प्राणनिग्रह किया करें। हे साधक ! तू सधे स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीरों की सहायता से योग में दृढ़ स्थिति को प्राप्त कर। और दिव्य ज्योति को प्राप्त हो और देवकोटि के सिद्धों के मार्गों का अवलम्बन करके दुःख रहित सुख को प्राप्त कर।[६२] जीवात्मा का अजन्मा होना और शरीरान्त के पश्चात् विभिन्न योनियां ग्रहण करना निम्न मन्त्रों में स्पष्ट है–

"दाहकर्म से अवशिष्ट अजभाग अर्थात् नित्य पदार्थ जो कि जीवात्मा है, वह मानुष आयु से संपन्न होकर तथा सुन्दर तनु पाकर फिर हम लोगों में आये।[६३]

हे जीवात्मा ! तू भिन्न-भिन्न योनियों में जाकर पुराने किये निन्दनीय कर्मों के फलभोग द्वारा उन-उन कर्मों से छुटकारा पाकर तथा सुन्दर मानुष तनु पाकर फिर घरों में रहने वाला बन।[६४]

सत्कर्म की प्रेरणा

मानुष-योनि से भिन्न योनियों में जीवात्मा को इसलिए जाना होता है, कि जिससे वह मानुष शरीर में किये निन्दनीय कर्मों से छुटकारा पाकर फिर मानुषयोनि में आकर अधिक उन्नति के योग्य बन सके। इसी आशय से आत्मालोचन और पापमोचन के विषय में निम्नलिखित मन्त्र में निर्देश है–

'तीन वर्षों से इधर काल में जो मैंने कोई अनृत भाषण किया

---

६२. प्रजानन्तः प्रति गृहणन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम्।
दिवं गच्छ प्रतितिष्ठा शरीरैःस्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः।।
—अथर्व सं०–२.३४.५.

६३. आयुर्वसान उपयातु शेषः संगच्छतां तन्वा सुवर्चाः। –वही–१८.२.१०.

६४. हित्वाऽवद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छतां तन्वा सुवर्चाः।। –वही–१८.३.५८.

है, तो सर्वव्यापक परमेश्वर मुझे उस प्रकार के पाप से बचाये।[६५] (ताकि मैं पुनः अनृतभाषण न करूं) तथा सब प्रकार के दुष्फल पापों से मुझे बचाये।

जीव के परम लक्ष्य की प्राप्ति में यहां इन्द्रियों और मन को बाधक मानकर उनके प्रहारों का प्रभाव ब्रह्म की शक्ति के कारण नहीं होता है।

मैं अब ब्रह्मरूपी कवच द्वारा सब ओर से घिरा हूं, और सर्वद्रष्टा की ज्योति तथा तेज द्वारा सब प्रकार से घिरा हुआ हूं, इसलिए मेरे वध के लिए , मुझ पर छोड़े गये ऐन्द्रिय तथा मानसिक बाणों के प्रहार नहीं होते।[६६]

परमेश्वर–प्रदत्त ज्ञान से वह पूर्ण आयु उत्तम कर्मों के साथ सम्पादन करता हुआ जीवन व्यतीत करे।

सृष्टि के स्वामी द्वारा प्रदत्त वैदिक धर्मरूप कवच से ढका हुआ, तथा सर्वद्रष्टा परमेश्वर की दिव्य ज्योति और तेज द्वारा ढका हुआ मैं जरावस्था तक पहुँचूँ तथा सत्कर्मों को करके मैं धर्मवीर बनूं, उन्नति के शिखर पर चढूं, सौ वर्षों से भी अधिक आयु वाला बनूं, और उत्तम कर्म करता रहूं।[६७]



---

६५. यदर्वाचीनं त्रैहायनादनृतं किं चोदिम।
आपो वा तस्मात् सर्वस्मात् दुरितात् पात्वंहसः। –
अथर्व० सं०–१०.५.२२.

६६. परीतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टावधाय। –वही–१७.१.२.

६७. प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा धर्मणाऽहं कश्यपस्य जयोतिषा वर्चसा च।
जरदष्टिःकृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्।।
–वही–१७.१.२७

द्वितीय अध्याय

अथर्ववेद एकादश काण्ड में सृष्टि सम्बन्धी विचार, महाभूत ?

सृष्टि का मूल

अथर्ववेद ग्यारहवें काण्ड में विश्व के आदि कारण के रूप में प्राण, उच्छिष्ट, मन्यु, भव, शर्व, रूद्र, ब्रह्मोदन तथा ओदन के द्वारा परम ब्रह्म अभिप्रेत है। यद्यपि इस काण्ड में सृष्टि प्रक्रिया का दार्शनिक ग्रन्थों में वर्णित क्रमानुसार कोई वैज्ञानिक वर्णन प्राप्त नहीं है, फिर भी कहीं कहीं सूक्ष्म स्रोत बीज रूप में दिखायी पड़ते हैं। डा० उमेश मिश्र के शब्दों में–

'यह तो साक्षात् प्राप्त ज्ञान के स्वरूपों का संकलन है, भण्डार है। इसी से तत्त्वों को निकालकर बाद में विद्वानों ने विचार के लिए एवं दर्शनों के निर्माण के लिए ज्ञान का संचय किया है।[1]

'प्राण नाम द्वारा अभिहित ब्रह्म एक मन्त्र में समस्त चराचर ब्रह्माण्ड का स्वामी है तथा प्राण में यह सारा जगत् स्थिर है। उस प्राण को परमतत्त्व मानकर ही उसे नमस्कार कहा है।[2]

सायणाचार्य ने इस मन्त्र के साथ भाष्य में प्राण शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार से किया है–

'प्रकृष्टतया अनिति' समस्त प्राणिमात्र के शरीरों को व्याप्त करके

---

१. भा० द०। डा० उमेश मिश्र। पृष्ठ–३७

२. प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
   यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्।। –अथर्व० सं० ११.४.१.

जो चेष्टा करता है वह प्राण है अर्थात् परमात्मा है। वही समष्टिरूप शरीर में व्याप्त प्रथम सृष्टि हिरण्यगर्भ है।[3]

'यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्' का अर्थ भी सायणाचार्य ने किया है–

'इस प्राण रूप परब्रह्म में समस्त संसार प्रतिष्ठित है, अर्थात् कारण भूत उस परमेश्वर में समवाय वृत्ति से विद्यमान है।[4]

शतपथ ब्राह्मण में भी प्रजापति को प्राण कहा है तथा प्राण को ही प्रजापति बतलाया गया है।[5]

मन्त्र का अभिप्राय, समग्र जगत् का मुख्य प्राण परब्रह्म है। जड़चेतन जगत् प्रत्येक पदार्थ में अपना प्राण है, जिस प्राण के कारण उस पदार्थ की सत्ता बनी है। प्रातिस्विक प्राण परमेश्वर रूपी प्राण द्वारा पदार्थ मात्र को प्राप्त है, क्योंकि प्रत्येक की स्थिति परमेश्वराश्रित है। परमेश्वर के नियमानुसार, जब पदार्थों में प्राण शक्ति नहीं रहती तब महाप्रलय में सब पदार्थ प्रकृतिरूपी उपादान कारण में विलीन हो जाते हैं और प्राण शक्ति को पुनः प्राप्त कर सृष्टिकाल में पुनः सत्तावान् हो जाते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी प्राण को ब्रह्म कहा है।

'वह एक देव कौन सा है ? वह प्राण है। उसे ही ब्रह्म कहते हैं।[6]

---

३. प्रकर्षेण अनिति सर्वप्राणिशरीरं व्याप्य चेष्टत इति प्राणः
समष्टिशरीराभिमानी प्रथमसृष्टो हिरण्यगर्भः।।
—अथर्व० भा०–११.४.१. सायण

४. प्राणे परब्रह्मात्मके समस्तं जगत् प्रतिष्ठितम्।
कारणभूते तस्मिन् समवायवृत्या वर्त्तते।।
—अथर्व० भा०–११.४.१. सायण

५. क. प्राण हि प्रजापतिः। श० ब्रा०–४.५.५.१३.
ख. प्राणो उ वै प्रजापतिः। —वही–८.४.१.४.
ग. प्राणः प्रजापतिः। —वही–६.३.१.६.

६. कतम एको देव इति ? प्राण इति ब्रह्म तदित्याचक्षते।।
बृ० उ०–३.६.६.

उक्त विवेचित मन्त्र से अगले मंत्र में वृष्टियुक्त मेघ के रूप में प्राणरूप परमेश्वर को नमस्कार है–

'क्रन्दन करते हुए प्राण को नमस्कार है, गरजते हुए को नमस्कार है।

चमकते हुए प्राण को नमस्कार है तथा बरसते हुए प्राण को नमस्कार है।[७]

मेघ निज स्थिति और कार्यों के लिए प्राणदाता परमेश्वर से प्राण प्राप्त करता है। जैसे शरीर जड़ है, और शरीरस्थ जीवात्मा चेतन है। इस चेतन के कारण शरीर की स्थिति तथा चेष्टाएं होती हैं, जीवात्मा के निकल जाने पर शरीर निष्प्राण, निचेष्ट हो जाता है, इसी प्रकार मेघ और परमेश्वरीय प्राण की पारस्परिक स्थिति है।

'जब प्राण मेघ के रूप में औषधियों के रूप में गरजता है तब वे विशेष रूप से प्रजनन का कार्य करती हैं और गर्भ धारण करती है तथा फिर नानाविध होकर विविध प्रकारों से उत्पन्न होती हैं।[८]

प्राण रूप मेष वर्षा द्वारा पृथ्वी पर बरसता है तो पशु प्रसन्न होते हैं कि बहुत अन्न उत्पन्न होगा।[९] इसको प्रश्नोपनिषद् में भी कहा है कि–

'हे प्राण जब तू बरसता है तब ये समस्त तेरी प्रजाएं प्रसन्न होती हैं कि खूब अन्न होगा।[१०]

---

७. नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते।। –अथर्व० सं०–११.४.२.

८. यत् प्राणस्तयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः।
प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते।। –वही–११.४.३.

९. यदा प्राणो अभ्यवर्षीत् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति। –वही–११.४.५.

१०. यदा त्वमथ वर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यति।। –प्र० उ०–२.१०.

एक अन्य मन्त्र में प्राण रूप परमेश्वर के दो शरीरों का वर्णन है जिसमें एक प्रिय रूपा है और दूसरा उससे भी अधिक प्रिय रूपा है। प्रार्थना की गई है कि वे दोनों जीवन प्रदान करें।

हे प्राण ! जो तेरा प्रिय शरीर है, और जो हे प्राण ! तेरा अधिक प्रिय शरीर है तथा तेरा जो भेषज अर्थात् जीवात्मा के रागद्वेष, अविद्या और विविध जन्म रूपी रोगों की चिकित्सा करने वाला स्वरूप है उसे जीवन के लिए हमें प्रदान करे।[११]

मन्त्र में परमेश्वर के ही दो तनुओं अर्थात् स्वरूपों का वर्णन प्राप्त है। इन दो स्वरूपों को उपनिषद् में प्रेय और श्रेय कहा है। प्राणी जीवन में भी दो स्वरूप होते हैं–शरीर और जीवात्मा। इसी प्रकार परमेश्वर के दो स्वरूप–तनू तथा तनू के अंगों के रूप में वर्णित हैं।[१२]

प्राणी जीवन में शरीर में और शरीरावयवों में प्रेरणा चेतन जीवात्मा द्वारा होती है। इसी प्रकार से ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के घटक अवयवों में भी प्रेरणाएं चेतन द्वारा हो रही हैं। इस तथ्य के प्रदर्शन के लिए ब्रह्माण्ड को पारमेश्वरी तनू कहा है। प्राण रूप परमेश्वर में भूत भव्य सब प्रतिष्ठित हैं।

प्राण को मातरिश्वा कहते हैं और वायु का नाम ही प्राण है। भूतकाल का और भविष्यत् काल का जगत् प्राण में तथा प्राण सब जगत् में प्रतिष्ठित है।[१३]

हंस नाम से भौतिक शरीर और संसार की एक पाद द्वारा स्थिर

---

११. या ते प्राण प्रिया तनूर्या ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे।। –अथर्व० सं०–११.४.१.

१२. अथर्व सं०–१०.७.३२.३३.३४

१३. प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं च भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।।
–अथर्व० सं०–११.४.१५.

रहने पर स्थिति तथा उड़ जाने पर विनाश की स्थिति का वर्णन किया है। इस मन्त्र[14] का सायण ने सूर्य और प्राण परक अर्थ किया है।

'हन्ति जो जाता है उसे हंस कहते हैं अर्थात् समस्त संसार का प्राणभूत सूर्य । वह सूर्य आकाशरूपी समुद्र से निकलता हुआ एक पैर को नहीं उठाता। अर्थात् एक पैर को निश्चल रखकर शेष एक पाद से ही परिभ्रमण करता है। अरे हे भाई देवदत्त। यदि वह उस निश्चल पांव को भी उठा ले तो फिर वह दोनों पैरों से हम सब के समान जहां कहीं भी चला जाये अथवा थककर कहीं भी बैठ जाए। तब फिर कालनिर्माता सूर्य के परिस्पन्दन के अभाव में आज कल और दिन रात, इस प्रकार का विभिन्न व्यवहार ही न हो सकेगा। कभी उच्छन(प्रकाशन) ही नहीं हो, व्युच्छन उषा के प्रादुर्भाव को कहते हैं। सूर्योदय के न होने पर उससे होने वाली उषा भी न उदित हो। इस प्रकार सारा संसार अन्धकारमय हो जाएगा।[15]

प्राण के पक्ष में भी अर्थ किया है जिसमें हंस का अर्थ प्राण है–

'सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करके जो वर्तमान है वह प्राण भी हंस

---

१४. एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नेवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री।
नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन।। —वही–११.४.२१.

१५. हन्ति गच्छतीति हंसः जगत्प्राणभूतः सूर्यः। स सलिलाद् उच्चरन् उद्गच्छन् उद्यन्नित्यर्थः। एकं पादं नोत्खिदति नोद्धरति।एकं पादं निश्चलं स्थापयित्वा एकेनैव पादेन परिभ्रमति इत्यर्थः। अङ्ग हे देवदत्त ! स उच्चरन् सूर्यः यत् यदि तं निहितं पादं उत्खिदेत् क्षिपेत् तर्हि असौ द्वाभ्यां पादाभ्यां अस्मदादिवत् यत्र क्वापि गच्छेत् निषीदेद वा। तथा च सूर्यस्य परिस्पन्दाभावात् अद्य स्वः रात्री अहः इत्येवं विभिन्न व्यवहारो न स्यात्। कदाचिदपि न व्युच्छेत् व्युच्छनम् उषसः प्रादुर्भावः। सूर्यस्योदये सम्भाव्यमाने तत् पुरोभाविनी उषा अपि नोदियात्। तथा च जगदान्ध्यमेव स्यात् इत्यर्थः।
—अथर्व० भा०–११.४.२१. सायण

है। वह हंस सलिलोपलक्षित पंचभौतिक शरीर से प्राणवृत्ति रूप ऊपर को निकलता हुआ अपानवृत्त्यात्मक एक पांव को नहीं उठाता। यदि वह उसको भी उठा ले तब प्राण के पूर्णतया शरीर से निकल जाने के कारण मृतशरीर को आज-कल, दिन-रात का पृथक् भान ही न हो और कभी प्रकाशित ही नहीं हो तो तम की निवृत्ति भी न हो सके। अतः जगत् शरीर को सजीव रखने के लिए पैर को नहीं उठाता।[१६]

अन्य भाष्यकारों ने प्रो० विश्वनाथ, पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, श्रीकण्ठ शास्त्री ने भी सूर्य और प्राण हंस शब्द का अर्थ करके व्याख्या की है, परन्तु पण्डित जयदेव विद्यालंकार ने हंस शब्द का अर्थ परम पुरुष किया है।

'वह परम पुरुष प्राण जिस प्रकार हंस जलजीव एक पैर उठाकर दूसरा पैर भी पानी में ही स्थिर रखता है, उसी प्रकार इस महान् संसार से ऊपर मोक्षरूप में असंग रहकर भी एक चरण संसार से नहीं उखाड़ता। इसी से संसार चलता है। हे जिज्ञासो ! यदि वह परमेश्वर उस चरण को भी ऊपर उठा ले तब न तो आज और न कल हुआ करे अर्थात् न रात और न दिन हुआ करे, और न उषाकाल ही हुआ करे। क्योंकि उसका सर्व प्रवर्तक चरण चालक शक्ति संसार से उठ जाने से समस्त संसार जड़ हो जाये। न सूर्य चले न चन्द्र, न उदित हो, और न अस्त।[१७]

परमेश्वर एक पैर से संसार की अवस्थिति का कारण है और

१६. हन्ति गच्छति कृत्स्नशरीरं व्याप्य वर्त्तत इति हंसः प्राणः। सलिलात् सलिलोपलक्षितात् पाञ्चभौतिकाद् देहाद् उच्चरन् प्राणवृत्त्यात्मना ऊर्ध्वं गच्छन् एकं पादं अपानवृत्यात्मकं नोत्खिदति नोत्क्षिपति।यदि स प्राणस्तमपि अपानात्मकं पादम् उत्खिदेत् शरीराद् उत्क्षियेत् तदा प्राणस्य कार्त्स्न्येन शरीरतो निर्गतत्वात् मृतशरीरस्य तस्य अद्य श्वः रात्रिः अहः इत्येवमात्मकः कालविभागो न स्यात्। कदाचिदपि न व्युच्छेत् तमसो निवृत्तिर्न स्यात् अतः जगत् सजीव कर्तुं एकं पादं नोत्खिदति इत्यर्थः। —अथर्व० भा०—११.४.२१. सायण

१७. वही—११.४.२१. जयदेव शर्मा

वही पाद जब उठा लेता है तब प्रलय होती है फिर उसी एक पैर से वह बार-बार इस संसार को उत्पन्न करता रहता है।[१८]

प्राण आत्मा का वाहन है, वह इसी हंस पर चढ़कर आती है और मृत्युकाल में इसी पर बैठकर उड़ जाती है इसे स्पष्ट करते हुए पुराणों में प्राण सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को ब्रह्मा कहते हुए उन्हें हंस-वाहन बताया गया है। आत्मारूपी ब्रह्मा हृदयरूपीकमल में विराजमान रहने से कमलासन भी कहलाता है। हंस को मानसरोवर का वासी कहा जाता है, जबकि प्राण रूपी हंस भी मानव (अन्तःकरण या हृदय) में ही रमण करने वाला होता है। तात्पर्य यह है कि पुराण प्रतिपादित ब्रह्मा, उनका वाहन हंस, उनका कमलासन, मानसरोवरादि के वर्णन का मूल उक्त मन्त्र में प्रतिपादित आत्मतत्त्व, प्राणतत्त्वादि में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। श्वास अन्दर जाने के समय 'स' की ध्वनि होती है। और उच्छ्वास बाहर आने के समय 'ह' की ध्वनि होती है। ह और स मिलकर हंस शब्द प्राण वाचक बनता है।[१९]

एक मन्त्र में वर्णन है कि रथ के आठ चक्र हैं और उस रथ के चक्रों की एक नेमि है। सभी चक्र नेमि से जुड़े हुए हैं और वे चक्र सहस्रों की संख्या में हैं। इस मन्त्र को भी भाष्यकारों ने दो प्रकार से व्याख्यात किया है। ब्रह्माण्ड रूपी रथ के रूप में तथा शरीर रूपी रथ के रूप में।

शरीर पक्ष में

'शरीर में त्वचा रूधिर आदि सात और आठवीं धातु आठ चक्र हैं, ये शरीर को बनाती हैं, उन पर प्राण ही एक नेमि है। मन के संकल्प विकल्प रूप सहस्रों उसमें अक्ष हैं। वह प्राण बाहर और भीतर जाता है।

---

१८. त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।।
—यजु० सं०—३१.४.

१९. अथर्व० भा०—११.४.२१. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

आधे से इस शरीर को स्थिर करता है और आधे से वह स्वयं आत्मरूप है। अर्थात् एकांश से कर्त्ता और एकांश से भोक्ता है।[२०]

अथवा आठ चक्रों 'मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार' वाला अनेक इन्द्रियों से युक्त या अनेक वर्णात्मक ध्वनि करने वाला यह शरीर रूपी रथ प्राणरूपी एक नेमि से युक्त है।[२१]

ब्रह्माण्ड रथ के आठ चक्र हैं–प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पंचतन्मात्राएं (रस, रूप, गन्ध, शब्द और स्पर्श)' प्रकृति तो प्रकृति रूप है। विकृति रूप नहीं।[२२]

शेष प्रकृति विकृति रूप है। इन्हीं के आधार पर समग्र ब्रह्माण्ड आश्रित तथा चलायमान हो रहा है। ब्रह्माण्ड के आठ चक्रों पर ब्रह्म नेमिरूप है, उनकी रक्षा करता है। ब्रह्माण्ड के आठ चक्रों में ब्रह्मरूपी अक्ष लगा हुआ है। ब्रह्माण्ड में हजारों सौर मण्डलों के चक्र चल रहे हैं। उन सब चक्रों में ब्रह्म ही अक्षरूप है।

'परब्रह्मात्मक प्राण का एक ही भाग सम्पूर्ण जगत् रूप में प्रकट होता है, तथा तीन भाग अमृत में ही विद्यमान रहता है।[२३]

'जो समस्त इस क्रियाशील विश्व की नाना प्रकार की उत्पत्ति में सामर्थ्यवान् है, अथवा नाना प्रकार से उत्पन्न होने वाले इस क्रियाशील विश्व पर नियंत्रण कर रहा है, और अन्य प्राणियों में भी अति शीघ्रता से गति दे रहा है। हे प्राणेश्वर उस तेरे लिए नमस्कार है।[२४]

---

२०. अष्टाचक्रं वर्त्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः।
अथर्व० सं०–११.४.२२.

२१. अथर्व० भा०–११.४.२२. श्रीकंठ शास्त्री

२२. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। सांख्य सूत्र

२३. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि। यजु०–३१.३.

२४. यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोस्तु ते।। –अथर्व० सं०–११.४.२३.

शरीर में किसी भी अन्य अवयव की गति इतनी शीघ्र नहीं होती जितनी कि प्राणापान की होती है। प्राण वायु के प्रतिपादित गुणों की अपेक्षा परमेश्वर में इन गुणों का अतिशय है। परमेश्वर की शीघ्र गति के समबन्ध में कहा है कि–'परमेश्वर स्थित रहता हुआ ही दौड़ते हुए अन्यों से आगे निकल जाता है।[२५]

व्यापक होने से वह तो सदा सर्वत्र पहुँचा हुआ ही है। अतः मन्त्र में प्राण से परमेश्वर ही अभिप्रेत है नमः पद भी परमेश्वर को ही लक्ष्य करके पठित है।

सोए हुए प्राणियों में, प्राण या परमेश्वर जागता है। प्राण या परमेश्वर टेढ़ा होकर नहीं सोता, सोए हुओं में इस प्राण या परमेश्वर के सोने को वंश परम्परा से किसी ने नहीं सुना।[२६]

इसका अभिप्राय है कि समस्त जड़ चेतन पदार्थों में जब शिथिलता आती है, और विश्राम की अवस्था को प्राप्त होते हैं, तो परमेश्वर ही रक्षार्थ जागता है, और उसे भी कभी किसी ने सोते हुए नहीं सुना, अर्थात् जब वह सो जायेगा तब महाप्रलय में समस्त जन्य जगत् कारण में लीन होकर परमशेवर (जो कि प्राण रूप में वर्णित है) के आश्रित ही स्थिति पा लेगा, इस प्राण को सृष्टि का आधार कहा जा सकता है।

परब्रह्म को उच्छिष्ट कहा है। इसका अर्थ आचार्य सायण ने होम का अवशिष्ट ओदन किया है।[२७]

---

२५. तद् धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्।।
यजु०सं०–४०.४.

२६. ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन।।
–अथर्व० सं०–११.४.२५.

२७. होमाद् ऊर्ध्वशिष्यते अवशिष्यत इति हुतावशिष्टः प्राशनार्थ ओदन उच्छिष्टः।
–अथर्व० भा०–११.७.१. सायण

श्री कण्ठ शास्त्री ने उच्छिष्ट का अर्थ 'सबके ऊपर अवशिष्ट रहने वाला ब्रह्म ही उच्छिष्ट शब्द वाच्य है।[२८] श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने भी 'ऊर्ध्वभाग में अवशिष्ट' जो उच्च स्थान में अवशिष्ट कहा है। विश्व बनने के पश्चात् जो भाग अवशिष्ट है उसका नाम उच्छिष्ट है।[२९]

प्रो० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड ने कुछ पृथक् अर्थ किया है जो उचित प्रतीत होता है। 'उत्' उत्कृष्ट' तथा विश्व के संहार के पश्चात् भी 'शिष्ट' अर्थात् अवशिष्ट रहने वाला यह ब्रह्म ही है। प्रलय में प्रकृति भी अवशिष्ट रहती है, परन्तु वह कार्योन्मुखी नहीं होती, निश्चेष्ट सी रहती है। अतः वह 'उत्' अर्थात् उत्कृष्ट नहीं हो सकती। जीवात्मा अवशिष्ट रहते हैं, परन्तु वे भी निश्चेष्ट साथ ही जीवात्मा नानाविध होते हैं और उच्छिष्ट एकवचनान्त है, अतः इस पद के द्वारा कोई 'एक' अवशिष्ट ही अभिप्रेत है। ब्रह्म प्रलयावस्था में भी प्रकृति और जीवात्माओं का नियन्त्रण कर रहा है। अतः प्रलय में ब्रह्म ही 'उत्कृष्ट तथा अवशिष्ट शक्ति रूप होता है।[३०]

उपर्युक्त उच्छिष्ट शब्द जो ब्रह्म का बोधक है, उस ब्रह्म में समस्त नाम रूपात्मक जगत्, लोक, लोकान्तर, विद्युत, और अग्नि सब सम्यक्तया अवस्थित है।

प्रलय में उत्कृष्ट शक्ति रूप में अवशिष्ट अर्थात् बचे हुए परमेश्वर में सृष्ट जगत् के नाम और रूप स्थित हैं। तथा उच्छिष्ट में लोक लोकान्तर स्थित हैं। उच्छिष्ट में विद्युत् और अग्नि स्थित हैं और उच्छिष्ट के भीतर समग्र वस्तु-जात स्थित है।[३१]

---

२८. उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्। आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः।। अ०सं० ११.७.२.

२९. अथर्व० भा०—११.७.१. श्रीपाद सातवलेकर

३०. वही—११.७.१. प्रो० विश्वनाथ

३१. उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्।।
अथर्व सं०—११.७.१.

चारों वेद नामात्मक हैं, और प्राकृतिक जगत् रूपात्मक हैं। ये तत्त्व (सत्त्व, रजस्, तमस्, महत्तत्त्व, अहंकार) स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व, समस्त सूर्यादि लोक नाभि के चारों ओर चक्र के समान उच्छिष्ट में ही आश्रित हैं।[३२]

तात्पर्य है कि सर्गारम्भ में पंच आदि तत्त्व प्रकृति की विकृति में मूल कारण थे तत्पश्चत् पंच सूक्ष्म भूत और पंच स्थूल भूत कारण थे। इन सबको यथावत् ज्ञानपूर्वक युक्त करने वाला अथवा इनमें गति प्रदाता उच्छिष्ट ब्रह्म ही था। जिस प्रकार से तैत्तिरीयोपनिषद्[३३] में इनकी उत्पत्ति का क्रम कहा गया है वैसा मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख नहीं है।[३४] जिस प्रकार माता के गर्भ में बालक के समस्त अंगों का उचित विन्यास तथा परिपाक होता है ठीक उसी प्रकार उच्छिष्ट ब्रह्म में समस्त ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्डावयव और यज्ञों के अंगों का पारिपाक होता अथवा पुष्टि होती है।[३५] यदि माता के प्राणों से बालक प्राणवान् होता है तो ब्रह्माण्ड के समस्त अवयवों में प्राणशक्ति उच्छिष्ट ब्रह्म के ही कारण है।

'प्रलयरूपी महासमुद्र के भीतर तप और कर्म ही विद्यमान थे। निश्चय से तप कर्म से उत्पन्न हुआ वे ऋतु आदि उस कर्मरूपी बड़ी शक्ति की उपासना करते थे। सर्गोत्पत्ति के लिए प्रतीक्षा करते थे।[३६]

मन्त्राशय है कि ब्रह्म, सृष्ट्युत्पादन में पूर्वसृष्टि में किये गए जीवों के कर्मों के परिपाक की प्रतीक्षा करता है। ब्रह्म का स्रष्टव्य जगत् सम्बन्धी

---

३२. द्रः = द्रा कुत्सने। पा० धा०

३३. दृढो दृं ह स्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः।। — अथर्व० सं०–११.७.४.

३४. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः।। तैत्तिरी० उ०–२.१.१.

३५. उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गन्यन्तर्गर्भ इव मातरि।।
—अथर्व० सं० ११.७.६.

३६. तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत।। वही–११.८.६.

जो पर्यालोचन रूपी तप अर्थात् ज्ञान है, उसका प्रादुर्भाव भी जीवात्माओं के कर्मों के परिपाक के कारण ही है। इसलिए जीवात्माओं के सामूहिक कर्म, सृष्ट्युत्पादन में ज्येष्ठशक्ति रूप है। अर्थात् ब्रह्म के तप और कर्म में, जीवात्माओं के कर्मों का प्राधान्य है।

जो इस प्रत्यक्ष जगत् से पूर्व की भूमि थी, अर्थात् सृष्टि की पूर्वभाविनी कारणरूप दशा थी, जिसको सत्य का साक्षात् ज्ञान करने वाले तत्त्वज्ञानी वैज्ञानिक लोग ही जानते हैं, जो उसे कारण रूप पूर्व दिशा को ठीक-ठीक रूप में जानता है, वही पुरूष, पुराण अर्थात् सृष्टि के पूर्व के पदार्थों के यथार्थ ज्ञान का जानने हारा विद्वान् मानने योग्य है।[३७]

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, उद्गीथ, स्तवन, हिंकार, स्वर साम के आलाप उच्छिष्ट ब्रह्म में स्थित हैं।[३८]

एक मन्त्र में नौ भूमियों का वर्णन प्राप्त है।

नौ भूमियां, समस्त समुद्र और आकाश के सब भाग उस उत्कृष्ट परमात्मा में आश्रित हैं। उसी के आश्रय में सूर्य और दिन-रात प्रकाशमान हो रहे हैं। वह परमात्मा मुझ में भी प्रकाशित हो।[३९]

नव भूमि इसके दो अभिप्राय हैं एक यह कि पृथ्वी एक अविभाज्य इकाई नहीं। यह नौ खण्डों में विभक्त है। यह खण्ड चलायमान है, और अपने स्थान बदलते रहते हैं, ऐसा वर्तमान वैज्ञानिक मानते हैं, सायण ने भी नवभूमि का अर्थ नौ खण्ड रूप पृथिवियां[४०] किया है। सौरमण्डल

---

३७. येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्दातय इद् सिवदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराण वित्।। —
अथर्व सं०—११.८.७.

३८. ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडितश्च तन्मयि।। —वही—११.७.५.

३९. नवभूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि।। —अथर्व० भा० ११.७.१४.

४०. नवखण्डात्मिका पृथिव्यः। —अथर्व० भा०—११.७.१४. सायण

की नौ भूमियां–बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनैश्चर, युरेनस (वरूण) नेपचून, चन्द्रमा।

श्रीमद्भागवत् में इन नौ खण्डों का वर्णन करते हुए इनके नामों का भी परिगणन किया है।

'इलावृत, रम्यक, हिरण्यमय, कुरूवर्ष, हरिवर्ष, किम्पुरूषवर्ष, भारत, केतुमाल, भद्राश्व।[४१]

इस मन्त्र में उच्छिष्ट से क्या क्या उत्पन्न हुआ है। यह बताया गया है।

जो प्राणिवर्ग प्राणवायु द्वारा प्राण धारण करता है, और जो आंख द्वारा देखता है, तथा सब देव जो द्युलोक में हैं और द्युलोक जिनका आश्रय है, वे प्रलय में भी अवशिष्ट परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं।[४२]

सभी प्राणधारी प्राणी द्युलोकस्थ 'देव' सूर्य चन्द्र नक्षत्र, ग्रहोपग्रह तथा द्युलोक का भी आधार अथवा कारण इन सब जन्य पदार्थों का जनक अथवा मूल कारण उच्छिष्ट ब्रह्म है। उसी से उत्पत्ति हुई है।

ऋग्वेद, सामवेद, आह्लादप्रद अथर्ववेद, यजुर्वेद, के साथ भूमि की प्रागवस्था की विद्या या प्रकृति, तथा सब देव द्युलोकस्थ उच्छिष्ट ब्रह्म से ही प्रादर्भूत हुए हैं।[४३] मन्त्र में पुराणं का अर्थ अथर्ववेद में ही विद्यमान मन्त्रों के आधार पर भूमि की प्रागवस्था व प्रकृति किया गया है।[४४]

प्राणापान की उत्पत्ति भी उच्छिष्ट ब्रह्म से है।[४५]

समृद्धि के द्वारा उत्पन्न सुख विशेष या ब्रह्मोपासना द्वारा उत्पन्न आनन्दमयी चित्तवृत्तियां, मानसिक मोद प्रमोद अर्थात् हर्ष जो सम्मुख प्राप्त

४१. श्रीमद्भागवत ५.१६.

४२. यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः।। –अथर्व सं०–११.७.२३.

४३. ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः।। –वही–११.७.२४.

४४. क. अथर्व–११.८.७. ख. १०.७.२६.

४५. अथर्व सं०–११.७.२५.

विषयजन्य हर्षातिरेक और सब द्युलोक, द्युलोकस्थ देव उच्छिष्ट ब्रह्म से ही पैदा हुए हैं।[४६] देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व, ये सब उच्छिष्ट ब्रह्म से ही प्रादुर्भूत हैं।[४७]

सृष्टि के उपादान कारण का रूपक

अथर्ववेद काण्ड ग्यारह सूक्त आठ में विवाह का सन्दर्भ प्रकट करते हुए मन्त्र सर्गारम्भ की ओर संकेत करते हुए कहता है कि जब परब्रह्म परेमश्वर को प्राणियों के कर्म पारिपाक जनित सम्बन्ध के कारण सृष्टि निर्माण की इच्छा हुई तो प्रश्न हुआ कन्या पक्ष के लोग कौन थे ? जब सृष्टि के पूर्व कोई था ही नहीं तब घराती कहाँ से आये ?'

जिस समय मन्यु संकल्प के घर से स्त्री को विवाह करके लाया तब घराती कौन थे, बराती कौन थे ? और कौन सबसे श्रेष्ठ वर था।'[४८]

इस मन्त्र का अर्थ भी दो प्रकार से किया है। एक आत्मा (भौतिक शरीर) परक, दूसरा परमात्मा (भौतिक संसार) परक।

मन्यु अर्थात् मननशील, ज्ञानसम्पन्न आत्मा, ने संकल्प के घर से अपनी स्त्री रूप बुद्धि से विवाह किया तब कन्या पक्ष के घराती कौन थे ? और बराती कौन थे। और कौन श्रेष्ठ वर रहा ?

मन्यु ईश्वर भी है।[४९] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी मन्यु को सर्वदेवमय बताया है।[५०]

---

४६. आनन्दामोदाः प्रमुदोऽभी मोदमुदश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः।। —अथर्व० सं०—११.७.२६.

४७. अथर्व० सं०—११.७.२७.

४८. यन्मन्यु र्जायामावहत्संकल्पस्य गृहादधि।
क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरो भवत्।। —वही—११.८.१

४९. ईश्वरः मन्यते सर्वं जानातीति मन्युः निरावरणज्ञान ईश्वरः।। —सायण

५०. मन्युर्भगो मन्युदेवास देवो मन्युर्होता वरुणो विश्ववेदाः।।
—तै० ब्रा०—२.४.१.११.

जाया का अर्थ भी सायणाचार्य ने जिससे सब जगत् की उत्पत्ति होती है ऐसी पारमेश्वरी मायाशक्ति किया है।[५१]

जब ज्ञानमय परमेश्वर संकल्प के ग्रहण सामर्थ्य से अपनी स्त्री रूपी संसार को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को धारण करता अथवा विवाह करता है तब प्रकृति के साथ-साथ और कौन-कौन सृष्टि उत्पत्ति में विशेष कारण थे और कौन-कौन से वर अर्थात् वरण करने योग्य, प्रवर्त्तक कारण थे और उनमें से सबसे अधिक श्रेष्ठ प्रवर्त्तक कारण कौन सा था। सृष्टि की उत्पत्ति में (जाया) स्त्री रूपी प्रकृति (मूल सत्त्व, रजस्, तमस्)' के अतिरिक्त कौन से कारण थे और उनमें भी प्रमुख प्रधान कारण के लिए प्रश्न किया गया है। दूसरे मन्त्र में इसका उत्तर दिया गया है।

'उस प्रकृति के परमाणुओं से बने बड़े भारी अव्यक्त कारण रूप समुद्र में, या इस महान आकाश के बीच, प्रलयरूपी महासमुद्र के भीतर तप और कर्म ये दो ही थे। वे ही घराती और बराती थे। वे ही जन्य अर्थात् सृष्टि के उत्पादक मूलकारण और वे ही 'वर' अर्थात् प्रवर्त्तक कारण थे उनमें से ब्रह्म ही ज्येष्ठ वर सर्वश्रेष्ठ प्रवर्त्तक था।[५२]

सृष्टि उत्पत्ति और तप

आचार्य सायण ने तप का अर्थ सृष्टि की रचना का पर्यालोचन रूपी तप किया है।[५३]

मुण्डकोपनिषद् में भी परमेश्वर का ज्ञानमय तप ही तप है।[५४] तप के द्वारा ब्रह्म विस्तृत होता है।[५५]

---

५१. जायतेऽस्यां सर्वं जगदिति जाया सिसृक्षावस्थापन्ना पारमेश्वरी माया शक्ति।। — अथर्व० भा०—११.८.१. सायण

५२. तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरो भवत्।——अथर्व सं०—११.८.२.

५३. परमेश्वरस्य स्रष्टव्यपर्यालोचनात्मकम् तपः।।
—अथर्व० भा०—११.८.२. सायण

५४. यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। —मु० उ०—१.१.६.

५५. तपसा चीयते ब्रह्म। —वही—१.१.८.

उसने तप को तपा, तप को तपने के उपरान्त यह सब संसार का निर्माण किया।[५६]

इस प्रकार परमेश्वर द्वारा सृष्टि-निर्माण करने हेतु ईक्षण को ही यहां तप नाम से अभिहित किया है।

देवसृष्टि और देवों का अभिप्राय

पहले अर्थात् सृष्ट्यारम्भ काल में, व्यापक दिव्य तत्त्वों से दस व्यष्टि दिव्य शक्तियां साथ-साथ पैदा हुईं। जो कोई निश्चय पूर्वक उन्हें जाने, वह आज बड़ी बात कहेगा।[५७]

सायणाचार्य ने दस व्यष्टि देवों का वर्णन इस प्रकार किया है।

अपने अपने विषय का द्योतन-प्रकाशन करने से पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां ये दस देव हैं। अथवा सात शीर्षस्थ प्राण और दो अवाङ् प्राण तथा एक मुख्य प्राण इस प्रकार दस प्राण दस देव हैं अथवा प्राण अपान चक्षु श्रोत्र इत्यादि उत्तरत्र उच्यमान दस संख्या वाले देव।[५८]

यहां सात शीर्ष भाग में प्राणों का वर्णन पिछले काण्ड में हुआ है। इस प्रकार सात और दो नौ एक मुख में रहने वाला प्राण दस संख्या प्राणों की है।[५९]

---

५६. स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत। —तै आ० —८.६.

५७. दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महत् वदेत्।।
अथर्व० सं०—११.८.३.

५८. दीव्यन्ति स्वस्वविषयं प्रकाशयन्ती ति देवा ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि यद्वा सप्त शीर्षण्याः प्राणाः, द्वौ अवाञ्चौ, मुख्य प्राण एकः अथवा प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रम् इत्युत्तर वक्ष्यमाणा दशसंख्याका देवाः।
अथर्व० भा०—११.८.३. सायण।

५९. कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षुषी मुखम्।
अथर्व०सं०—१०.२.६.

दस विभिन्न शरीरावयवों में दस प्राण निवास करते हैं यहां कौन सा प्राण किस अवयव में रहता है यह स्पष्टतः मन्त्रागत प्राप्त नहीं है।

इन्ही प्राणों की शरीरों में कहां स्थिति है यह एक अज्ञात सन्दर्भ के श्लोक से स्पष्ट भासित होता है।

हृदय देश में प्राण, उपस्थ में अपान, नाभि में समान नामक प्राण, कण्ठ में उदान तथा समस्त शरीर में व्यान नाम का प्राण कार्य करता है।[६०]

'महत्' अर्थात् देशकालकृत परिच्छेद रहित तथा सर्वगत ब्रह्म है।[६१]

प्राण और अपान आंख और कान अक्षिति अर्थात् अविनाशिनी ज्ञानशक्ति और क्षिति क्षयशील क्रियाशक्ति और व्यान तथा उदान वाणी और मन–उन्होंने भी आकूति नाम बुद्धिरूप जाया को धारण किया।[६२]

व्यान द्वारा अन्नरस विविध नाड़ियों में पहुंचता है।[६३]

उदान द्वारा उद्गार (निगरण) आदि व्यापार होता है।[६४]

ये दस देव हैं जिनकी पिछले मन्त्र में उत्पत्ति कही है। 'जब ऋतुएं तथा धारण पोषण करने वाला मेघ, वायु, विद्युत् और अग्नि सूर्य

---

६०. हृदि प्राणः गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठ देशे स्यात् व्यानः सर्वशरीरकः।।

६१. अथर्व भा०–११.८.३. सायण।

६२. प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन्।। –अथर्व० सं०–११.८.४.

६३. अन्नरसं सर्वासु नाडीषुविविधम् अनिति प्रेरयतीति व्यानः।।
अथर्व० भा०–११.८.४. विश्वनाथ

६४. उत् ऊर्ध्व अनिति उद्गारदि व्यापारं करोतीति, उदानः।।वही

चन्द्र प्रादुर्भूत नहीं हुए, उस समय वे किस बड़ी शक्ति की उपासना करते थे।[६५] उत्पत्ति की प्रतीक्षा करते थे।

सृष्टि के धारक तत्त्व

निरुक्त में धाता और बृहस्पति को मध्यम स्थानीय देवता बताया गया है। यथाक्रम इनका सम्बन्ध अन्न की उत्पत्ति तथा प्रजापालन के साथ वर्णित है। (धाता–डुधाञ् धारणपोषणयोः) अर्थात् मेघ। बृहस्पति=बृहतः स्थावरजङ्गमात्मकस्य प्राणिजातस्य पतिः रक्षकः पालकः वायुः वायु प्राणाधार है। बिना वायु के जीवन कतिपय क्षणों में समाप्त हो जाता है।

अतः वायु महापालक बृहस्पति है।

अश्विना–द्यावापृथिव्यौ, सूर्याचन्द्रमसौ, अहोरात्रे।।

वैदिक दृष्टि में वस्तु का प्रादुर्भाव अर्थात् अपने कारण में सूक्ष्मरूप में स्थित का प्रकाशमात्र होता है, कोई नई उत्पति नहीं होती।[६६]

भूमि–भवन्ति पदार्था अस्यामिति भूमिः।[६७] भूमि की पूर्वावस्था, उत्पादिकावस्था में न थी, वह अपने कारणों में केवल प्रथितावस्था में थी अतः उसका नाम उस अवस्था में 'पृथ्वी' था, भूमि नहीं। अद्धातयः में अत् का अर्थ है ज्ञान।[६८] भूमि की पूर्वावस्था में उसका नाम 'पृथ्वी था। इसी नाम से प्रत्यक्ष में प्रथित हुई, भूमि को पृथ्वी भी कहते हैं। अभिप्राय यह है कि भूमि की वर्तमानावस्था में इस पर प्राणिजात तथा वृक्ष वनस्पतियां पैदा हो रही हैं, इसलिए इसका नाम भूमि है। परन्तु इस अवस्था से पूर्व

---

६५. आ जाता असन्नृवोथै धाता बृहस्पतिः।
इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत।। –अथर्व० सं०–११.८.५.

६६. अथर्व० सं०–१७.१.१६.

६७. उणादि०–४.४६. स्वामी दयानन्द

६८. अद्धा सत्यनाम। निघण्टु–३.७.
अत् सातत्य गमने।–पा० धा०
गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञान गमनं प्राप्तिश्चेति। स० प्र० स्वामी दयानन्द

की अवस्थाओं में भूमि उत्पादिकावस्था में न थी। सूर्य से जब ये पृथक् हुई तो यह आग्नेयावस्था में थी। शनैः शनैः यह ठण्डी हुई तो वायव्यावस्था में, तदन्तर जलीयावस्था में और बहुकाल पश्चात् दृढ़ावस्था में आई।[६९] इस दृढ़ावस्था से पूर्व की अवस्थाओं में भूमि अपनी पूर्व पूर्व की अवस्थाओं में परिणामों में अधिकाधिक विस्तृत थी। इसलिए इन प्रथितावस्थाओं में इसे नाम द्वारा पृथ्वी कह सकते हैं। प्रथनात् पृथ्वी (प्रथ विस्तारे)।

आचार्य सायण ने अद्धातयः का अर्थ अतीतानागतविद् महर्षि आदि किया है।[७०]

पृथ्वी शब्द को भी ब्रह्माण्ड का उपलक्षक माना हैं।

इन्द्र किससे उत्पन्न हुआ ? इसका पूर्व रूप क्या था ? सोम किससे उत्पन्न हुआ ? अग्नि किससे पैदा हुआ, त्वष्टा किससे सम्भूत हुआ और धाता किससे उत्पन्न हुआ।[७१]

इन्द्र, सोम आदि के उत्तर में अगला मन्त्र प्रस्तुत है–

'इन्द्र से इन्द्र उत्पन्न हुआ, सोम से सोम, अग्नि से अग्नि, त्वष्टा से त्वष्टा तथा धाता से धाता प्रादुर्भूत हुआ।[७२]

अर्थात् पूर्वसृष्टि में जिस रूप वाले इन्द्रादि थे उनसे वैसे ही साम्प्रतिक इन्द्र उत्पन्न हुए।[७३]

---

६९. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।।
यजु० ३२.६.

७०. अद्धा प्रत्यक्षं अतन्ति व्याप्नुवन्ति इति
अतीन्द्रियज्ञाना महर्षयः। —सायण

७१. कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताजायत।
— अथर्व० सं०–११.८.८.

७२. इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा हजज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत। वही–११.८.९.

७३. सूर्या, चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।। ऋग्वेद–१०.१९०.३

अथवा इन्द्रत्व प्राप्त कराने वाले कर्म से इन्द्र का जन्म हुआ ऐसे ही सोमादि का भी। इस मन्त्र से ध्वनित होता है कि जो वस्तु वर्तमान अवस्था में है वह प्रलयकाल में अपने कारण में विलीन होती है, वह नष्ट नहीं होती, प्रत्युत अपने स्वरूप व आकार में परिवर्त्तित हो जाती है और वर्तमानावस्था के नाम, रूप को छोड़कर कारण में परिवर्तित होकर फिर ब्रह्म की ईक्षण शक्ति से अथवा तप से अपने कारण द्वारा कार्यरूप में नाम सहित प्रादुर्भूत होती है। इसी को सांख्य ने 'सत्कार्यवाद' का नाम दिया है।

पूर्वोक्त दस देव (प्राणापानादि, अथवा दशाङ्गुलम् अर्थात् पञ्च सूक्ष्म भूत और स्थूल भूत) अग्नि आदि देवों से पूर्व आदिकाल में उत्पन्न हुए थे।[७४]

इस प्रकार सर्वप्रथम दस देव उत्पन्न हुए और उन दस देवों से अन्य पदार्थ उत्पन्न हुए हैं।

लोक-सृष्टि

जिस ओदनरूपी ब्रह्म में अन्तरिक्ष, द्युलोक और भूमि ये तीन लोक अधरोत्तर भाव में अर्थात् परस्पर नीचे ऊपर रूप में आश्रित हैं।[७५]

आचार्य सायण ने ओदन का अर्थ विराट् आत्मा किया है।

तस्य प्रसिद्धस्य विराडात्मना भावनीयस्य ओदनस्य बृहस्पति देवः शिरः मूर्धा। तस्यापि कारण भूतं यद् ब्रह्म तद् ओदनस्य मुखम् आस्यम्।।[७६]

जो ओदन अर्थात् ब्रह्मोदन है, यह निश्चय से सूर्य का प्रवेश स्थान है।[७७]

---

७४. ये त आसन दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।—अथर्व० सं०—११.८.१०.
७५. यस्मिन्त्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयो वरपरं श्रिताः। —अथर्व० सं०—११.३.२०.
७६. अथर्व० भा०—११.३.१.
७७. एतद् वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः।। —अथर्व० सं०—११.३.५०.

इस मन्त्र में ओदन तथा ब्रह्मोदन को एक ही कहा है। विष्टम् शब्द का अर्थ भी स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार ब्रह्म ही है।[७८]

'निश्चय से इस निज ब्रह्मौदन स्वरूप से प्रजापति रूप में तेंतीस लोकों को निर्मित किया। अर्थात् तेंतीस देवों के तेंतीस लोकों को नियत किया। उन तैंतीस लोकों के ज्ञान के लिए प्रजापति ने यज्ञ की सृष्टि की।[७९]

उक्त मन्त्र के अनुसार ब्रह्म ने सृष्ट्युत्पादनार्थ प्रजापति रूप होकर तेंतीस लोकों का निर्माण किया। इससे इस बात का परिज्ञान होता कि प्रलयावस्था में ब्रह्म प्रजापति नहीं होता। प्रजाओं के होने पर ही ब्रह्म का प्रजापति रूप आविर्भूत होता है। प्रलयावस्था में प्रजाएं प्रकृतिलीन रहती हैं। मन्त्र में तेंतीस लोकों के निर्माण का उल्लेख है। जब कि तेंतीस देवों का तो वर्णन होता है, लोकों का दिखायी नहीं देता। सम्भवतः 'लोकृ दर्शने' धातु का अर्थ देखना है। दर्शनीय होने से 'लोकान्' का तात्पर्य द्रष्टव्य भी हो सकता है।

प्रजापति ने संसार रूपी यज्ञ की रचना की जिससे इस यज्ञ के घटक तेंतीस लोकों का यथार्थ स्वरूप जाना जा सके। सृष्टि के होते ही सृष्टि के घटक अवयवों का मन्त्र के उपलब्ध वेद भाष्यों में भी "लोकों" का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ है। तेंतीस देव तो परिगणित किये हैं। 'आठ वसु' ग्यारह रूद्र, बारह आदित्य, प्रजापति और वषट्कार।[८०]

---

७८. विशन्ति यत्रेति विष्टपम्।

—उणादि—३.१४५, स्वामी दयानन्द

७९. एतस्माद् वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः।।
तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत।।

—अर्थव० सं०—११.३.५३.

८०. अष्टौ वसवः एकादश रुद्राः द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च।
ऐ० ब्रा०—१.१०.

सम्पूर्ण अध्याय में ब्रह्म को ही विभिन्न पूर्वोक्त नामों द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति में प्रधान कारण अथवा निमित्त कारण के रूप में वर्णित किया गया है। जब कि प्रत्येक पदार्थ के विनाश को स्वीकार न करके उसको कारण में विलीन होना माना है, इससे यह बात सिद्ध हुई कि वस्तु कार्य रूप में उपादान कारण से प्रस्फुटित निमित्त कारण ब्रह्म द्वारा प्रादुर्भूत होती है और दृष्टि में व्यक्त होकर आती है। इससे पूर्वावस्था में वह अव्यक्त रहती है। और व्यक्ताव्यक्त दोनों परमेश्वराश्रित हैं। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि सांख्य के सत्कार्यवाद का सिद्धान्त अथर्ववेद में भी बीज रूप में, मूल रूप में अथवा स्रोत रूप में स्पष्ट रूप से प्राप्त है।



तृतीय अध्याय

सर्वोच्च सत्ता

भव, शर्व, रुद्र रूप में परमेश्वर का वर्णन

सर्वशक्तिमत्ता के रूप में सर्वोच्च सत्ता को 'उग्र' नाम से वर्णित किया गया है। सृष्टिस्थ समस्त पदार्थ तथा चेतना आत्मा से युक्त शरीर जीवन प्राप्त कर रहा है, वह सब तेजस्वी 'उद्गूर्ण बल रूद्र'[1] की उच्च शक्ति का प्रतीक है।

'हे सर्वशक्तिमान् अथवा तेजस्विन् चारो प्रमुख दिशाएं तेरी हैं, द्युलोंक तेरा है, पृथिवी तेरी है, यह विस्तृत अन्तरिक्ष तेरा है अर्थात् इनका तू स्वामी है। यह चेतनात्मा से युक्त जो पृथिवी पर जीवन धारण कर रहा है, सब तेरा ही है।[2]

इस मन्त्र में उग्र रूप में परम सत्ता का भान तथा उपर्युक्त मन्त्रागत विशाल शक्तियों के द्योतक दिक् पृथिवी द्युलोक पदार्थों से शक्तिमत्ता का बोध होता है। अब वह 'भव' रूप में अपना सर्वव्यापकत्व प्रकट करता है जो उसने निज व्याप्ति के द्वारा प्रपूरित किया हुआ है।

'सर्वोत्पादक परमात्मा द्युलोक का स्वामी है और वही सर्वोत्पादक भव पृथिवी को भी वश में कर रहा है। उसी सृष्ट्युत्पादक परमेश्वर ने विस्तृत अन्तरिक्ष को व्याप्त किया हुआ है जिस किसी भी दिशा में वह है, यहां से उसे नमस्कार है।"[3]

---

१. अर्थव० भा०–११.२.१०. सायण

२. तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम्।
तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु।। –अथर्व० सं०–११.२.१०.

३. भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ प्र प्र उर्वन्तरिक्षम्
तस्मै नमो यतमस्यां दिशीतः।। —वही–११.२.२७.

भव, शर्व और रूद्र रूप में परमेश्वर की शक्ति सामर्थ्य तथा सृष्ट्युत्पत्ति का कारण कहा है।

हे सृष्ट्युत्पादक तथा सृष्टि संहारक ! हमें सुखी करो।[४]

सायण ने भव का अर्थ सृष्टि की उत्पत्ति जिससे होती है वह भव है, ऐसा किया है।[५]

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार ने 'भव' का अर्थ जो पदार्थों को उत्पन्न करता है, इस प्रकार का किया है।[६]

शर्व का अर्थ सृष्टि की अवधि के उपरान्त पदार्थों को कारण में परिवर्तित्त अर्थात् जगत् का विनाश करने वाला शर्व नाम से अभिहित है।[७]

इस मन्त्र में 'भवाशव' समस्त पद है। इसलिए ये अर्थ से भी संयुक्त है, जैसे कि –अहोरात्रे, द्यावापृथिव्यौ, श्वासप्रश्वासौ, मित्रावरूणौ, प्राणापानौ आदि। समस्त पदों के घटकपदों में परस्पर आर्थिक सम्बन्ध भी है। किसी भी वस्तु के निर्माण में प्रथम उसके पूर्वरूप का संहार करना होता है, तदनन्तर उस वस्तु में नये रूप का उत्पादन होता है। प्रथम बीज के बीजत्वरूप का संहार होगा। तदनन्तर उसके अंकुरत्वरूप का उत्पादन होगा। प्रथम साम्यावस्थापन्न प्रकृति की साम्यावस्था का संहार होगा, तदनन्तर उसकी वैषम्यावस्था 'महत्' आदि तत्त्वों का उत्पादन होगा। इसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न कार्य जगत् का जब संहार होगा तदनन्तर प्रकृति में पुनः साम्यावस्था का उत्पादन होगा। इस प्रकार भव और शर्व में परस्पर आर्थिक सम्बन्ध है।

---

४. भवाशर्वौ मृडत –अथर्व० सं०–११.२.१. सायण

५. तत्र सृष्ट्यादौ भवति यस्मात् सर्वं जगदिति भवः।।
–अथर्व० भा०–११.२.१. सायण

६. भावयति उत्पादयति पदार्थानिति भवः।।
–अथर्व० भा०–११.२.१. विश्वनाथ

७. श्रृणाति सर्वं जगद्विनस्ति संहृतिसमये इति शर्वः। –वही–११.२.१. सायण

परमात्मा के दो स्वरूप हैं। भव और शर्व, पूर्व मन्त्र में इनका उल्लेख क्रमशः सृष्ट्युत्पत्ति और संहारक के रूप में कर दिया है। भव और रुद्र दोनों गुणात्मक रूप में भिन्न होते हुए भी साथ-साथ रहने वाले हैं।

भव और रुद्र सदा एक दूसरे के साथ संयुक्त और एक दूसरे के साथ मानो परामर्श करके रहते हैं।[८]

रुद्र का अर्थ स्वामी दयानन्द ने किया है—जो दुष्ट कर्म करने हारों को रुलाता है। इससे उस परमेश्वर का नाम रुद्र है।[९]

आचार्य सायण ने भी रूद्र की व्युत्पत्तियां की हैं।

'रुद्र सर्वनियन्ता है जो सबको अन्त में रुलाता है। रुत् संसार रूपी दुःख है जो उसे नष्ट करता है, वह रुद्र अर्थात् परमेश्वर है।रुतः शब्दरूपी उपनिषदें हैं, उनके द्वारा जो जाना जाता है या प्रतिपादित किया जाता है अर्थात् ब्रह्म। रुत् शब्दरूपी वाणी या उसके द्वारा प्रतिपाद्य आत्मविद्या है। जो उसे उपासकों को देता है। वह रुद्र अर्थात् ब्रह्म है।'[१०]

इन उपर्युक्त तीनों गुणों के कारण पृथक्-पृथक् नाम वाला परमेश्वर ही समस्त दिशाओं, द्युलोक, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष लोक को धारण करके स्वामी बना हुआ है।

'चारों दिशाएं तेरी हैं, यह महान् आकाश व सूर्य तेरा है। यह

---

८. भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय।।
—अथर्व० सं०—११.२.१४.

९. यो रोदयति अन्यायकारिणे जनान् स रुद्र परमेश्वरः। स० प्र०—प्रथम समुल्लास

१०. रोदयति सर्वमन्तकाल इति रुद्रः। यद्वा रूत्संसाराख्यं दुःखम्। तद् द्रावयत्यपगमयति विनाशयतीति रुद्रः। यद्वा रुतः शब्दरूपा उपनिषदः। ताभिर्द्रूयते गम्यते प्रतिपाद्यत इति रुद्रः। यद्वा रुत् शब्दात्मिका वाणी तत्प्रतिपाद्यात्मविद्या वा। तामुपासकेभ्यो राति ददातीति रुद्रः। —ऋ०सं० १.११४. सायण

पृथिवी, विशाल अन्तरिक्ष भी तेरा ही है। यह सब चेतन आत्मा संयुक्त जो पृथ्वी पर जीवन धारण कर रहा है, वह सब तेरा ही है।[११]

भव भवति, जो होता है,सर्वत्र होता है, सदा होता है, अमर्त्य भव को प्राण सदृश मानकर उसके अमर्त्य रुद्र के स्वरूप को तथा उत्पन्न शक्तियों को नमस्कार किया है और सर्वद्रष्टृत्व शक्ति सम्पन्न कहा है।

हे अमर सर्वोत्पादक भव ! ईश्वर सबको आह्लादित करने और सबको रुलाने वाले प्राण के समान सबके प्राण स्वरूप, सबको जीवन देने हारे तुझको और जो तेरी मोहन कारिणी शक्तियां हैं उनको नमस्कार है। हे सबको रुलाने वाले और दुःखों के विनाशक ! हे अमर्त्य ! तुझ सहस्त्रों आंखों वाले, सर्वद्रष्टा, को हम नमस्कार करते हैं।[१२]

जिस प्रकार शरीर में प्राणों का महत्त्व है, उसी प्रकार जीवन को सम्यक् गति देने के लिए अथवा चलाने के लिए भव-रूप प्राण की आवश्यकता या महत्ता वर्णित है। क्रन्दाय का अर्थ धातुज अथवा आख्यातज समझना उचित है।[१३]

रुद्–दुःख का कारण,उसको दूर करने वाला परमेश्वर रुद्र है।[१४]

'सहस्राक्षाय' (सहस्त्रों आंखों वाले) से परमेश्वर की आकृति रूप चर्मचक्षु अभिप्रेत नहीं है प्रत्युत उसकी व्यापकता से कोई भी स्थान अथवा काल रिक्त न होने के कारण वह सब वस्तुओं को जान और देख सकता है। जहां दो व्यक्ति गुप्त मंत्रणा करते हैं राजा वरुण उनमें तीसरा होकर उस मन्त्रणा को जान रहा होता है।[१५]

---

११. अथर्व० सं०–११.२.१०

१२. क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः
नमस्ते रूद्र कृण्मः सहस्राक्षातमात्य। —अथर्व० सं०–११.२.३.

१३. क्रदि–आह्लादने रोदने च। —पा० धा०
क्रन्दयति रोदयति सर्वं अन्तकाले इति क्रन्दः।
—अथर्व भा०–११.२.३.–सायण

१४. रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा तस्य द्रावको देवो रुद्रः परमेश्वरः। —वही

१५. द्वौ निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः।
—अथर्व० सं०–४.१६.२.

हजारों आंखों वाले दिव्य गुप्तचर भूमि और भूमि से परे भी देख रहे हैं।[16]

सहस्राक्षाय का सायण ने अर्थ 'हजारों आंखें अर्थात् दर्शनशक्ति जिसकी' किया है।[17]

यजुर्वेद में आये 'सहस्राक्ष' शब्द का अर्थ स्वामी दयानन्द ने 'असंख्य' आंखें हें जिनमें' किया है।[18]

प्रो० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड ने 'सहस्राक्ष' शब्द का अर्थ हजारों पापियों का क्षय करने वाले' किया है।[19]

एक अन्य मन्त्र में भी तीन दिशाओं का नामोल्लेख पूर्वक तम रहित द्युलोक से परे तथा अन्तरिक्ष में वर्तमान को नमस्कार है। ऐसा वर्णन किया गया है।

पूर्व दिशा में वर्तमान, उत्तर दिशा में तथा दक्षिण दिशा में वर्तमान तुझे नमस्कार है। सब ओर से अन्धकार वर्जित द्युलोक से ऊपर विद्यमान तथा अन्तराल में वर्तमान तुझे नमस्कार है।[20]

इससे भी परमेश्वर की सर्वत्र व्याप्ति अभिप्रेत है। सायणाचार्य ने आकाशमण्डल के मध्य में अवकाशात्मक आकाश को नियन्त्रण स्थित करने वाले को नमः कहा है।[21]

---

१६. सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्। अथर्व० सं०–४.१६.४.

१७. सहस्रं अक्षीणि दर्शनशक्तयो यस्य स तथोक्तः।

१८. सहस्राणि असंख्यातानि अक्षीणि यस्मिन्।
यजु० भा०–३१.१.–दयानन्द

१९. सहस्र + आ + क्ष, क्षि क्षये; अथर्व० भा० ११.२.३. विश्वनाथ

२०. पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत।
अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः।
–अथर्व० सं०–११.२.४.

२१. आकाशमण्डलस्य मध्ये अन्तरिक्षाय अन्तरा क्षान्ताय नियन्तृत्वेन अवस्थिताय अथवा अन्तरिक्षस्वामिने। –अथर्व० भा०–११.२.४. सायण

वह सबसे उत्कृष्ट और दृश्य जगत् से भी परे विद्यमान परमात्मा समस्त उत्पादक प्राणियों और लोकों का भी स्वयं पालक है और प्राण शक्ति का स्वयं पुत्र का भी पुत्र, मानों स्वयं व्यक्त देहों में प्रकट होने वाला है। और स्वयं इस महान विराट् देहों का निर्माता होने से उसका पितामह है। वह समस्त संसार का स्वामी समस्त सुखों और जीवनों की वर्षा करने हारा होकर उस भूमि पर सबको अतिक्रमण करके सबसे ऊंचा होकर विराजमान है।[२२] यजुर्वेद पुरुष सूक्त में भी इसी प्रकार का मन्त्र है जिसमें "सब ओर से व्याप्त हुआ भी उससे परे विद्यमान रहता है।"[२३]

ब्रह्म का शरीरांग रूप में वर्णन

पशुओं के अधिपति पशुपति नाम से भव रूप ब्रह्म अथवा परमेश्वर को मनुष्य की भांति शरीरावयव वाला बताकर इसके प्रत्येक अवयव को नमस्कार किया गया है। परमेश्वर के वे अवयव जो मन्त्र में वर्णित हैं उन्हें आलंकारिक वर्णन माना जाये तो सृष्टि का निर्माण करने के कारण काल्पनिक शरीर प्रकृति को मानकर उससे तुलना की जा सकती है तथा अथर्ववेद में ही ब्रह्म के शरीरावयवों का वर्णन प्रकृतिस्थ प्राप्त है।

जीवों के स्वामिन् ! परमात्मन् ! तेरे मुख को नमस्कार है, तेरी आंखों को नमस्कार है, तेरी त्वचा को नमस्कार है, तेरे सम्यग्दर्शन तथा प्रत्यक् आत्म स्वरूप के लिए नानाविध रूपों को नमस्कार है।[२४]

मुख का अभिप्राय अथर्ववेद १०, ७, १६ में कहा है कि जिस स्कम्भ का ब्रह्म मुख है।[२५] ब्रह्म अर्थात् वेद या ब्रह्मवेद अथर्ववेद।

---

२२. पिता जनितुरूच्छिष्टोऽसौ पौत्र पितामहः।
स क्षियत विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः।
—अथर्व० सं०—११.७.१६.

२३. स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्। —यजु० सं०—३१.१.

२४. मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव।
त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः। [illegible]र्व सं०—११.२.५.

२५. यस्य ब्रह्म मुखमाहुः। —अथर्व सं०—१०.७.१६.

ग्यारहवें काण्ड में भी ब्रह्म को मुख कहा है। 'उस ओदन के सम्बन्ध में बृहस्पति शिरः स्थानीय है और ब्रह्म मुख-स्थानीय है।[२६]

उसकी आंखों के सम्बन्ध में भी १०, ७, १८ में कहा है कि विराट् देह में सारभूत तेजोमय सहस्त्रों नक्षत्र जिसके चक्षु रूप हैं।[२७] तथा सूर्य और चन्द्र जिसकी दो आंखें हैं।[२८] सूर्य और चन्द्रमा के कारण प्राणियों की आंखें देखती हैं अतः ये दो आंखें ओदन रूप प्रभु की ही हैं।[२६]

समग्र जगत् की त्वचा परमेश्वर है जिसने सम्पूर्ण जगत् को निज व्याप्त स्वरूप से उसी प्रकार घेरा हुआ है जैसे हमारे शरीरों को त्वचा ने आवृत किया है, तथा वृक्षों को उनकी छाल रूपी त्वचा व्याप्त करती है। त्वचाएं शरीर की रक्षार्थ होती हैं। परमेश्वर भी जगत् की त्वचा बनकर जगत् को सुरक्षा प्रदान कर रहा है।

परमेश्वर जगत् को रूप प्रदान करता है, अतः वह रूप है। 'नक्षत्र उसके रूप हैं।[३०]

अंगरूप परमेश्वर को आगे भी निम्नलिखित रूप में नमस्कार किया गया है।

अंगों के लिए, उदर के लिए, जिह्वा के लिए, आस्य (मुख के लिए), दान्तों के लिए तथा गन्ध के लिए तुझे नमस्कार है।[३१]

परमेश्वर के अंग रूप को नमस्कार किया है जिसके गतिशील सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा तारागण शरीरावयव हैं।[३२] तथा पहुंचे हुए लोग असत्

---

२६. तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्। —वही—११.४.१.
२६. चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्। —वही—१०.७.१८.
२७. यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। —वही—१०.७.३३.
२८. सुर्याचन्द्रमसावक्षीणि —वही—११.४.२.
३०. नक्षत्राणि रूपमश्विनौ —यजु संख्या—३१.२२.
३१. अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते।
दद्भ्यो गन्धाय ते नमः। —अथर्व० सं०—११.२.६.
३२. अङ्गानि यस्य यातवः। —वही—१०.७.१८.

अर्थात् अव्याकृत प्रकृति को स्कम्भ का अंग कहते हैं।[३३] उदर को अन्तरिक्ष बताया है।[३४] मधुकशा अर्थात् मधुर वेदवाणी को परमेश्वर की जिह्वा कहा है।[३५] अग्नि आस्य है।[३६] जैसे अग्नि हवि को खाती है वैसे आस्य अन्न को खाता है।

'कमल इसका गन्ध स्थानी है।[३७] 'ददभ्यः गन्धाय' इन पदों द्वारा संहारक शक्तियों का वर्णन हुआ है।"ददृभ्यः" वे प्राणी हैं, जो कि अपने दांतों द्वारा प्रजा का संहार करते है। "ददृभ्यः" पद दांत वाले हिंस्र प्राणियों का उपलक्षक है। गन्धाय, पद भी परमेश्वर की सहांरक शक्ति का सूचक है। गन्ध अर्दने धातु से व्युत्पन्न है। अर्दन का अर्थ है हिंसन (अर्द हिसायाम्) दन्तुल हिंसक प्राणियों के अतिरिक्त कीट मशकादि अदन्तुल हिंसक प्राणी संख्या में अधिक हैं।

हे पशुपते जीवों के स्वामिन् यह तेरा महान् कोश, भुवन कोश है जिसमें अपने भीतर बसाने वाले (ये सूर्य पृथिवी) आदि सुरक्षित रखे गये हैं। जिसमें ये समस्त लोक प्रविष्ट हैं उस तुझको नमस्कार है।[३८]

हृद सर्पमण्डल जो कि १४० डिग्री से २२० डिग्री तक तुला राशि को स्पर्श करता हुआ फैला हुआ है। (The Water make, या Hydra)। इंसका मुख मिथुन राशि के समीप है।

जषाः–झषाः। ये बृहदाकार मछली है। जिसे मीन राशि कहते हैं, इसमें रेयती-नक्षत्र है।

---

३३. एकं तदङ्गं स्काम्भस्यसदाहुः परो जनाः। —वही–१०.७.२५.

३४. यस्म भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। —वही–१०.७.३२.

३५. जिह्वां मधु कशामुत। —वही–१०.७.१६.

३६. अग्निं यश्चक्र आस्यम्। —वही–१०.७.३३.

३७. पुष्करमस्य गन्धः। —वही–११.३.८.

कशा वाङ्नाम, जिह्वा वाङ्नाम। —निघण्टु–१.११.

३८. उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः।
—वही–११.२.११.

मीन–मछली। तथा 'तिमि' तारामण्डल। तिमि=मछली। लेटिन भाषा में इसे (Cetus) तथा अंग्रेजी में (Seamonster) कहते हैं। ये दो बृहदाकार मछलियां है। मीन राशि, कुम्भ राशि के पूर्व में और मेष राशि के समीप में है। मत्स्याः–(दक्षिण मत्स्य (Fishes Australln) यह कुम्भ राशि के दक्षिण में और मकर राशि के आग्नेयी दिशा में है। आग्नेयी दिशा दक्षिण पूर्व की अवान्तर दिशा है। पतत्रि–मत्स्य (Fishes Volans or flying fish)[३९]

रजस् का अर्थ है ज्योति[४०]। जिसका मन्त्रगतआशय है कि हे भव ! तू निज ज्योतिर्मय स्वरूप द्वारा जिस ज्योति को इन द्युलोकस्थ तारामण्डलों में प्रक्षिप्त कर रहा है।

उपनिषद् में भी इन सबकी ज्योतियों में परमेश्वरीय ज्योति ही चमक रही है।[४१]

एक मन्त्र में रुद्र-रूप में परमेश्वर की शक्ति का वर्णन है। जिसमें सुवर्णमय अथवा कान्तिमान् तेजोमय धनुष रुद्र ने धारण किया है।

हे परमेश्वर आप सहस्त्रों के नाशक शिखण्ड केश धारण करने वाले, पर संहारक और सैकड़ों के मारने वाले, सुवर्ण के समान कान्तिमान्, तेजस्वी सर्व सहांरक, सूर्यमय धनुष को धारण करते हैं सब पापियों को रुलाने वाले उस परमात्मा का प्रेरित यह बाण ही सर्वत्र चलता है, जो कि देवों की गति का प्रतीक है जिस दिशा में भी वह उसका बाण है उसको नमस्कार है।[४२]

---

३९. अथर्व० भा०–११.२.२५. प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

४०. ज्योती रज उच्यते। –नि०–४.३.१६.

४१. तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। –मु० उ०–२.२.१०.

४२. धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्त्रध्नि शतवधं शिखण्डिनम्।
रूद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः।
–अथर्व० सं०–११.२.१२.

परमात्मा का एक गुण यह है कि पापियों को अन्वेषण करके भी उन्हें उचित दण्ड प्रदान करता है।

हे दुष्टों को रुलाने वाले। जो आक्रान्त होकर छिप जाता है और तुझे नीचे दिखाना चाहता है, तू उसके पीछे पीछे पुनः घायल जानवर की चरण पंक्तियों के सदृश उसको खोजता है और उसे दण्ड देता है। पापी को परमात्मा कभी दण्ड दिये बिना नहीं रहता।[४३]

उक्त मन्त्र में परमेश्वर की न्यायकारिता का उल्लेख है। उसके पाश से कोई नहीं बच सकता चाहे वह कहीं छिप जाये, उसको रुद्ररूप में परमात्मा अन्वेषित करके अर्थात् अपनी व्याप्ति से जानता हुआ दण्ड प्रदान करता है।

रुद्र रूप परमेश्वर के दोनों रूपों को (उत्पादक व संहारक) नमस्कार है। दिन में रात्रि में, प्रातःकाल में, सायंकाल में नमस्कार है।[४४]

इससे यह संकेत मिलता है कि परमेश्वर उत्पादक (भव) भी है और संहारक (शर्व) भी है। वह सांय प्रातः आदि सभी कालों में व्याप्त है—कालानवच्छिन्न है।

ओदन द्वारा ब्रह्म का कथन

अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ३ में ओदन के स्वरूप का कथन किया है, उस ओदन द्वारा ब्रह्म का ही निर्देश प्रतीत होता है। ब्रह्मरूपी ओदन तथा कृष्योदन अर्थात् कृषि द्वारा उत्पन्न ओदन में परस्पर प्रतिरूपता अर्थात् सादृश्य दर्शाया है। इस ओदन का नाम ब्रह्मौदन भी है, अर्थात् ब्रह्मरूपी ओदन।

ओदन द्वारा पंचमहायज्ञ आदि में प्रोक्त सब लोक प्राप्त हो जाते हैं।[४५]

---

४३. योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति
पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव।। —वही—११.२.१३.

४४. नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमोदिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः।। —वही—११.२.१६.

४५. ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाःसमाप्याः। —अथर्व सं०—११.३.१६.

उन्दी–क्लेदने, उद्, ल्युट्, अन, "ल्युट च' से कर्म में ल्युट् प्रत्यय हुआ है उद्यते क्लिद्यते यः सः ओदनः दयार्द्रचेता ब्रह्म वा।[४६]

ओदन–ब्रह्म जब जीवन में परिपक्व हो जाता है, और उस द्वारा आत्मिक उन्नति हो जाती है, तो मानों उसे सब लोक प्राप्त हो जाते हैं।

सम्भवतः इस ओदन द्वारा व्याप्ति की ओर भी संकेत हो। जैसे वाष्प कण समस्त अन्तरिक्ष में व्याप्त हैं, वैसे ही ओदन रूपी ब्रह्म ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्यापक है।

जिस प्रकार जीवन के लिए शारीरिक शक्ति अत्यन्त आवश्यक है और वह शक्ति बिना ओदन के अर्थात् अन्न के सम्भव नहीं, उसी प्रकार सम्यक् जीवन की प्रेरणा के लिए आत्मिक शक्ति या उन्नति की अत्यन्त आवश्यकता है और वह ओदन ब्रह्म से ही सम्भव है।

इस विराट् रूप ओदन के अंगों सहित सम्पूर्ण स्वरूप का तादात्म्य से तथा अलंकारिक वर्णन किया गया है।

उस विराट् का बृहस्पति शिर है, वेद उसका ज्ञानप्रवक्ता मुख है।[४७] द्यौ और पृथिवी अर्थात् समस्त दिशाएं उसके कान हैं। सूर्य और चन्द्रमा उसकी दो आखें हैं। सात ऋषि (द्युलोकस्थ) उसके प्राणापानादि वायु हैं।[४८]

द्यावापृथ्वी को क्रन्दसी भी कहते हैं।[४९] आचार्य महीधर क्रन्दसी का अर्थ 'द्यावापृथिव्यौ' करते हैं। क्रन्दसी इसलिए कि द्युलोक और पृथिवी लोक आक्रन्दन आदि शब्दों में आश्रय हैं। दो श्रोत्र भी आक्रन्दन आदि के आश्रय हैं। सूर्य और चन्द्रमा के कारण प्राणियों की आंखें देखती हैं। अतः ये दो आंखे हैं।

---

४६. अथर्व० भा०–११.३.१. प्रो० विश्वनाथ

४७. तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्।। –अथर्व० सं०–११.३.१.

४८. द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः।
–अथर्व० सं०–११.३.१.

४९. यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने। –यजु० सं०–३२.७. महीधर

शरीरस्थ सात ऋषि[५०] प्राणापान आदि हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि[५१] सात ऋषि तब तक शरीर में रहते हैं, जब तक प्राणापानादि की क्रियाएं होती रहती हैं।

आंख अर्थात् परमेश्वर की ईक्षण शक्ति मूसलस्थानी है। और कामना अर्थात् संकल्प ओखली स्थानी है।[५२]

सृष्टि रचना के समय प्रथम परमेश्वर में ईक्षण होता है। छान्दोग्योपनिषद् में भी ऐसा ही वर्णन प्राप्त है कि–उसने ईक्षण किया।[५३] तत्पश्चात् सृष्टिरचना की कामना होती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में उसने कामना की, कहा है।[५४] कृषि ओदन के लए भी धान के अवहनन में प्रथम मूसल को उठाने और उसका प्रहार ओखली में करते हैं। तत्पश्चात् ओखली में तण्डुल तैयार होता है। छिलका अलग होता है और तत्त्व प्रकट होता है। उसी प्रकार परमेश्वर के ईक्षण और कामना से प्रकृति का झीना आवरण हटता है और जगत्तत्त्व प्रकट होता है। अतः परमेश्वरीय ईक्षण और कामना मूसल और उलूखल स्थानी है।

'खण्डनकारिणी विभाग शक्ति अथवा क्षीण होने वाला कार्य जगत् सूप का छाज है, उस सूप को लेने वाली 'अदिति' अर्थात् न क्षीण होने वाली प्रकृति है। वायु ब्रह्मौदन रूप चावलों को तुषों से पृथक् करने वाला है।[५५]

दिति, अदिति और वायु परमेश्वर सम्बन्धी तत्त्व हैं। और शूर्प, शूर्पग्राही तथा अपाविनक् कृष्योदन सम्बन्धी हैं। जो कार्य–जगत् में लीन रहते हैं वे दिति के पुत्र दैत्य हैं। अदिति न क्षीण होने वाली प्रकृति, जो

---

५०. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। —वही–३४.५५.

५१. निरुक्त–१२.४.३५.

५२. चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम्। —अथर्व० सं०–११.३.३.

५३. तद् ऐक्षत। —छा० उ०–६.२.३.

५४. सोऽकामयत। —बृ० उ०–१.४.७.

५५. दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वतोऽपाविनक्। —अथर्व सं०–११.३.४.

कारणरूपा प्रकृति में योगाभ्यास द्वारा लीन होने हैं उन्हें प्रकृतिलय कहते हैं। योगदर्शन में भी उसका संकेत मिलता है।[५६] ये कार्य जगत् विरक्त होते हैं, अतः दैत्य नहीं होते।

अश्व, कण हैं, गौएं, चावल हैं, मच्छर तुष हैं।[५७] टूटे हुए तण्डुल जो कणरूप होते हैं उन्हें अश्व कहा जाता है। वायु के कारण कण ऐसे उड़ते हैं जैसे कि अश्व वेग से उड़ते हैं। अनटूटे तण्डुलों को गावः कहा है। तण्डुल सात्त्विक भोजन है, गौए अर्थात् गोदुग्ध भी सात्त्विक हैं गांव का अर्थ गोदुग्ध निरुक्तकार यास्क ने ऋग्वेद ६, ४६, ४ की व्याख्या करते हुए 'इति पयसः' किया है।[५८] तद्धित प्रत्यय के बिना भी शब्द तद्धितार्थ में प्रयुक्त होते हैं।

तुष व्रीहि के छिलके। तुष हाथ में चुभते हैं, मच्छर भी काटते हैं जैसे भोजन में तुष अनिष्ट तथा फेंकने योग्य हैं, उसी प्रकार मच्छर अनिष्ट हैं। अतः तुष मच्छर हैं। कण, तण्डुल, तुष ये व्रीहि के अवयव हैं, अश्व, गौ, मच्छर इनका सम्बन्ध परमेश्वर ओदन के साथ है। अभिप्राय यह है कि सब की सृष्टि करने वाला परमेश्वर ही है।

नाना रंग वाले दृश्य उसके ऊपर के छिलके हैं और ऊपर की पपड़ी मेघ है[५९]।

आचार्य सायण ने कब्रु के स्थान पर कभ्रु पाठ मानकर "कं शिर एवं भ्रुवौ यस्य प्राणिजातस्य तत् कभ्रु" इस विग्रह द्वारा आंखों के ऊपर की भौएं अर्थ किया है।[६०] कब्रु शब्द का रूपान्तर कंबर तथा कंबु शब्द प्रतीत होते हैं जिनका अर्थ विविध रंगी बिन्दुओं वाला, धब्बों वाला पदार्थ सम्भवतः प्रकृति रूप पदार्थ है। अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्[६१] द्वारा

---

५६. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। योग०–१.१६.

५७. अश्वाः कणा गावस्तण्डुलाः मशकास्तुषाः।। अथर्व०–११.३.५.

५८. गोभिःशृणीत मत्सरम्।। निरूक्त–२.२.५.

५९. कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम्। अथर्व० सं०–११.३.६.

६०. अथर्व० भा०–११.३.६. सायण

६१. श्वेता. उ०–४.५.

प्रकृतिपदार्थ को विविध रंगी दर्शाया है। अवहत व्रीहि भी समूह रूप में, विविध रंगी होते हैं। इसे फलीकरणावस्था कह सकते हैं। कब्रु और अभ्र का सम्बन्ध परमेश्वर ओदन के साथ है।

काला लोहा इसका मांस है और लाल लोहा तांबा आदि धातुएं इसके रुधिर हैं।[६२]

टीन सीसा आदि इसके भस्म हैं, पीला सुवर्ण आदि धातु इसका उत्तम वर्ण है, कमल का फूल इसका गन्ध स्थानी है।[६३]

खलिहान इसका पात्र है। स्फ्य नामक उपकरण उसके कन्धे हैं ईषा नामक शकट के दो दण्ड उसके अनूक अर्थात् हंसली की हड्डी के समान है।[६४]

त्रपु हरित और पुष्कर का सम्बन्ध ओदन ब्रह्म के साथ है। खल, व्रीहि के कटे पौधों के पीडन का स्थान है पात्रम् शकट का वह भाग है जिसमें कटे व्रीहि पौधों को डालकर खलियान तक लाया जाता है। इसे शकट का धड़ या उपरथ भी कह सकते हैं। खलः असौ, अनूक्ये, ये परमेश्वरीय पदार्थ हैं।

शकट में बैल जोड़ने की रस्सियां आँतें हैं और बैल को शकट में जोड़ने की पट्टियां गुदा की नसें हैं।[६५]

यह ही पृथिवी सिद्ध किये जाते हुए ओदन की देगची स्थानी होती है। और द्युलोक ढकना–स्थानी होता है।[६६]

पकाए जाते हुए कृष्योदन की एक तो कुम्भी होती है अर्थात् देगची और दूसरा ढकना होता है। इसी प्रकार सिद्ध किये जाते हुए अर्थात्

---

६२. श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम्।। अथर्व० सं०—११.३.७.

६३. त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः।। वही—११.३.८.

६४. खलः पात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्ये। —वही—११.३.६.

६५. आन्त्राणि जत्रवो गुदा वरत्राः। —अथर्व सं०—११.३.१०.

६६. इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम्।
—अथर्व सं०—११.३.११.

आराध्यमान ओदन ब्रह्म की कुम्भी है, पृथिवी, और ढकना है द्युलोक। इन दोनों के मध्य व्याप्त ओदन ब्रह्म पकाया जाता है अर्थात् पृथिवी और द्युलोक की रचनाओं को दृष्टिगोचर करके रचयिता का भान या ध्यान किया जाता है यही उसकी आराधना है।

पृथिवी शरीर है,[६७] और द्यौ सिर है।[६८] इन दोनों के मध्य में स्थित सुषुम्णा नाड़ी के चक्रों में ओदन ब्रह्म का परिपाक करना होता है उसकी ध्यान द्वारा आराधना करनी होती है। मन्त्र में पृथिवी और द्यौ को कुम्भी और ढकना स्थानी कहा है।

'हल कृषि आदि उसकी पसुलियां हैं।बालुएं रेगिस्तान आदि प्रदेश उसे पेट में पड़े अर्धपक्व अन्न हैं।[६९]

सत्य ज्ञान या समस्त जल उसका हाथ धोने का जल है और नहरें नदियां सब उसके खेत को सींचने के लिए नालियों के रूप में हैं।[७०] मन्त्रस्थ ऋतम् शब्द उदक के अर्थ में आया है।[७१]

खेत में हल चलाने पर जो गहरी खाइयां पड़ जाती हैं, और खाइयों के दोनों ओर उन्नत ढेर हो जाते हैं वे पसलियों की आकृति के सदृश हैं। पसलियों के मध्य खाली स्थान खाइयां सी होती हैं उनके दोनों ओर पसलियाँ उभरी हुई होती हैं। पर्शवः और सिकताः परमेश्वरीय रचनाएं हैं।

ओदन रूपी ब्रह्म के परिपाक में चारों वेदों का क्या कर्म है, यह भी एक मन्त्र में इस प्रकार वर्णित है–

ओदन ब्रह्म को पकाने के लिए देगची ऋग्वेद द्वारा अग्नि पर स्थापित की गई है। अध्वर्यु ऋत्विक् सम्बन्धी कर्म के प्रतिपादक यजुर्वेद

---

६७. पृथिवी शरीरम्। –वही–५.६.७.

६८. शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। –यजु० सं०–३१.१३

६९. सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम्। –अथर्व सं०–११.३.१२

७०. ऋतं हस्तावनेजनं कुल्योपसेचनम्। –अथर्व सं०–११.३.१३.

७१. निघण्टु–१.१२.

द्वारा अग्नि के प्रति प्रेषित की गई है। अथर्ववेद द्वारा अग्नि से उतार कर ग्रहण कर ली गई है, सामवेद द्वारा अंगारों से परिवेष्टित की गई है।[७२]

परमेश्वर ओदन के सम्बन्ध में ज्ञानाग्नि पर परमेश्वरीय भावनाओं का परिपाक करना चाहिए और वह परिपाक वेदों में प्रतिपादित विद्या के अनुसार होना आवश्यक है। अथवा चारों वेदों के विषयों अर्थात् ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान पूर्वक होना उचित है। परमेश्वर रूप ओदन को सिद्ध करने के लिए शरीर कुम्भी है तथा शरीरगत इन्द्रियां, मन, बुद्धि और आत्मा ईंधन हैं।

बृहत् नाम सामगान है उदक में डाले गये तण्डुलों को मिश्रित करने का उपकरण और रथन्तर नामक सामगान है ओदन के उद्धरण का उपकरण अर्थात् कड़छी।[७३]

परमेश्वर रूपी ओदन को बृहत् सामगान द्वारा निज जीवनीय रस रक्त में मिश्रित कर, उपासना पूर्वक उसे अपने रस रक्त आदि अंगों तथा इन्द्रियादि में भावित कर, रथन्तर सामगान पूर्वक उपासना से उत्थान करने का वर्णन विदित होता है।

ऋतुएं ओदन के उपादान भूत व्रीहि को पकाने वाली तथा ऋतु–ऋतु में प्राप्त भिन्न-भिन्न वृक्षों के भिन्न-भिन्न काष्ठ अग्नि के प्रदीप्त करने वाले हैं।[७४]

पंच बिलों अर्थात् छिद्रों वाली ओदन परिपाकार्थ कुम्भी रूपी उख को काष्ठों की गर्मी अभितप्त करती है तथा भूत पंचक रूपी पांच बिले वाली पृथिवी को सूर्य की गर्मी अभितप्त करती है।[७५]

---

७२. क. ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता। —वही—११.३.१४
ख. ब्रह्मणापरिगृहीता साम्ना पर्यूढा। —वही—११.३.१५

७३. बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः। —अथर्व सं०—११.३.१६

७४. ऋतवः पक्तारार्तवाः समिन्धते। —वही—११.३.१७

७५. चरुं पंचबिलमुखं घर्मोऽभीन्धे। —वही—११.३.१८

पृथिवी के पांच बिल अर्थात् छिद्र या मुख से अभिप्रेत क्या है यह कुछ अस्पष्ट सा प्रतीत होता है। आचार्य सायण ने पंचबिलम् उखम् का अर्थ गावौ अश्वाः पुरुषा अजावयः किया है।[76]

आगे ब्रह्मोदन रूपी परमेश्वर की अद्वितीय महिमा का उल्लेख किया गया है। जो ओदन की महिमा को जान ले वह न कहे कि यह अल्प है, न कहे कि ये उपसेचन से रहित है, न कहे कि यह ही, न कहे कि क्या और नहीं।[77]

इस सूक्त में ओदन से अभिप्रेत अर्थ सर्वोच्चसत्ता के रूप में परब्रह्म ही है। उसके सम्बन्ध में उपदेष्टा जितना उपदेश दे उस विषय में श्रोता यह न कहे कि यह उपदेश अल्प है और दीजिए, न कहे कि ओदन का स्वरूप इतना ही है और न कहे कि ओदन के स्वरूप पर और प्रकाश डालिए।

ब्रह्म का प्रवचन करने वाले कहते हैं अर्थात् पूछते हैं कि पराक् ओदन का तूने प्राशन किया है, या प्रत्यक् ओदन का।[78]

पराक् और प्रत्यक् ये दो स्वरूप ब्रह्म के हैं। ब्रह्माण्ड को परमेश्वर के शरीर रूप में वर्णित किया है, और ब्रह्माण्ड के अवयवों को परमेश्वर के शरीरावयव या अंग रूप में। परन्तु ब्रह्माण्ड और तदवयव ब्रह्म के कर्मफल भोग निमित्तक नहीं। अपितु यह दर्शाने के लिए है कि जैसे अस्मदादि शरीर और शरीरावयव जीवात्मा के ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न द्वारा प्रेरित होते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के घटक अवयव ब्रह्म के ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न द्वारा प्रेरित हो रहे हैं, जगत् निरात्मक नहीं है। परांच अर्थात् पराक् ब्रह्म है। प्राकृतिक जगत्, और प्रत्यंच अर्थात्

---

७६. अथर्व० भा०–११.२.६.

७७. स य ओदनस्य महिमानं विद्यात्।
नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति।
अर्थव० सं०–११.३.२३–२४.

७८. ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशीः प्रत्यञ्चामिति।
अथर्व सं०–११.३.२६.

प्रत्यक् ब्रह्म है ब्रह्म का निज स्वरूप सत्, चित् आनन्द स्वरूप है। इसी भावना को उपनिषद् में 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' कहा है।[७९]

'इस पराक् ओदन का तूने प्राशन किया है, तो तुझे प्राण छोड़ जायेंगे इस प्रकार इसको कहे।[८०]

उपर्युक्त मन्त्र में ब्रह्म रूपी ओदन के दो स्वरूपों का वर्णन किया है। पराक् और प्रत्यक्। पराक् ओदन का अभिप्राय है जो परमेश्वर की शक्ति से प्रचालित ब्रह्माण्ड अथवा प्रकृतिस्थ गतिमान् पदार्थ उनमें भी उसी की शक्ति काम कर रही है। जो उसकी शक्ति रूप प्राकृतिक पदार्थों का मात्र उपभोग करते हैं। वे प्राणों के द्वारा शीघ्र ही त्याग दिये जाते हैं अर्थात् उन्हें प्राण छोड़ देते हैं। इस प्रकार से प्राकृतिक पदार्थों में ही रत रहने वाले प्राणियों को पूर्व ही सावधान किया जाये ऐसा ब्रह्मविद कहता है। भाग प्रधान जीवन में जीवन शक्ति का ह्रास होता है। और जीवनीय शक्ति प्राणों में ही है। भोगों द्वारा रोगों का भय होता है और रोगों से प्राण शक्ति का क्षय अवश्यम्भावी है।

यदि इस प्रत्यक् ओदन का तूने प्राशन किया है तो अपान तुझे छोड़ जायेंगे इस प्रकार आध्यात्मिक भोक्ता को कहे।[८१]

ओदन के दूसरे प्रत्यक् स्वरूप का जो व्यक्ति प्राशन करता है अर्थात् उसी ब्रह्म में ही निरत रहता हुआ निज शरीर की आवश्यकताओं को भी विस्मृत कर देता है ऐसे व्यक्ति को अपान नामक प्राण छोड़ देते हैं। जिससे मनुष्य जीवित ही नहीं रह सकता। इसका अभिप्राय यह है कि न ही अति भोग विलास में रमण करना चाहिए और न ही अतिसाधना में रत रहना चाहिए। अपितु शरीर के आवश्यक तत्त्वों की पूर्ति करते हुए संसार का प्रकृतिस्थ पदार्थों के रसास्वादन द्वारा उपयुक्त उचित उपभोग करने के साथ ही साथ अध्यात्म की ओर दृष्टि लगाकर परमतत्त्व

७९. बृह० उ०–२.३.

८०. पराञ्च चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह।

—अथर्व सं०–११.३.२८.

८१. प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह। —अथर्व सं०–११.३.२९.

ओदन का प्राशन अर्थात् अनुभव करना ही वेदोक्त और श्रेयस्कर है।

परमेश्वर की विशेषता को निम्नलिखित पहेली द्वारा समझाया गया है–

'न ही मैंने ओदन का प्राशन किया और न मेरा ओदन ने प्राशन किया है।[८२]

ये प्रश्न साधारण से प्रतीत होते हुए भी अत्यधिक आध्यात्मिकता के भाव लिए हुए असाधारण ही हैं। इनके उत्तर भी आध्यात्मिक भावनाओं का पुट लिए हुए हैं। उत्तरदाता अपने स्वरूप को दो रूपों में देखता है। अध्यात्म और अनध्यात्म। अनध्यात्म रूप है शरीर, और अध्यात्म रूप है जीवात्मा का आत्मरूप। उत्तरदाता का अभिप्राय है कि 'मैं आत्मा' ने प्राकृतिक ओदन का प्राशन नहीं किया। न प्राकृतिक ओदन ने मेरे (आत्मरूप) का प्राशन किया है। तब किसने किसका प्राशन किया है यह अगले मन्त्र में बताया गया है।

ओदन द्वारा ओदन का प्राशन

"ओदन ने ही ओदन का प्राशन किया है।[८३]

अर्थात् आत्मारूप देहस्थ प्रजापति ही स्वयं ओदन बनकर विराट् प्रजापति का आनन्द प्राप्त करता है। शरीर को भी ओदन कहा जा सकता है, क्योंकि यह ओदन का ही विकृत रूप है। ओदन का अर्थ (भौतिक खाद्य पदार्थ) तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा भी है कि—अन्न ओदन रूप में अन्न ही है, अन्न से रेतस् उत्पन्न होता है।रेतस् से पुरुष शरीर उत्पन्न होता है, इसलिए पुरुष शरीर अन्नरसमय है।[८४] इस अन्न या ओदनरूपी शरीर ने निज आवश्यकतानुसार, न कि भोग भावना से, ओदन अर्थात् प्राकृतिक ओदन का प्राशन किया है। इसलिए ओदन ने ही ओदन का प्राशन किया है।

---

८२. नैवाहमोदनं न मामोदनः। —वही—११.३.३०.

८३. ओदन एवौदनं प्राशीत्। —अथर्व सं०—११.३.३१.

८४. अन्नाद् रेतः रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषः अन्नरसमयः। —तै० उ०

जीवात्मा के पक्ष में अर्थ होगा–'आत्मस्वरूप मैंने तो आध्यात्मिक ब्रह्मौदन का ही प्राशन किया है प्राकृतिक ओदन का नहीं।"

ब्रह्मौदन के सम्बन्ध में अन्यत्र भी परिपाक करने के लिए वर्णन प्राप्त है।

"मैं विश्वविजयी ब्रह्मरूपी ओदन का परिपाक करता हूं, निज जीवन में उसकी स्थिति परिपक्व करता हूं।[८५]

व्यक्ति जब तादात्म्य की स्थिति में पहुंचता है, या जब विराट् समष्टि के दृष्टिकोण से विचार करता है तब वह अपने में और अन्यों में या प्राकृतिक पदार्थों में भी भेद कर पाने में असमर्थ हो जाता है। अतः मन्त्र में भी उसी भाव को लेकर ओदन ने ओदन का प्राशन किया है।" कहा गया सम्भव प्रतीत होता है। जब ओदन भी प्रकृति प्रदत्त है और मूल कारण तो ब्रह्म ही है क्योंकि ब्रह्म ने ही समस्त प्रकृतिस्थ पदार्थों का निर्माण किया है और अपनी ऊर्जा या शक्ति से संचालित कर रहा है। इसलिए ब्रह्म भी ओदन साक्षात् वेदोक्त है ही। यदि वेद को न भी माने तो भी परोक्ष रूप में तो सम्बन्ध कर्तृत्व रूप से स्पष्ट है जो सभी को समझ में आ सकता है। इसी बात को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादि–भाष्य–भूमिका पुस्तक में स्पष्ट लिखा है।

"अब यहां जिस-जिस मन्त्र का पारमार्थिक और व्यावहारिक अर्थ श्लेषालंकारादि से सम्भव होगा तो वहां वहां सप्रमाण दोनों अर्थों को किया जायेगा। कुछ वेदमन्त्रों का केवल व्यावहारिक अर्थ होता है। तथापि ईश्वर अर्थ का सर्वथा त्याग उन मन्त्रों में भी नहीं है। शब्दार्थ ईश्वर परक न होने पर भी जिस पदार्थ का उस मन्त्र में वर्णन है, उसका निमित्त कारण ईश्वर ही है और वह ईश्वर जगत् के सब पदार्थों में व्यापक है तथा प्रत्येक कार्य का पदार्थ से कर्त्ता होने के कारण उसका सम्बन्ध है। मन्त्र वर्णित सब पृथिव्यादि द्रव्यों की सत्ता ईश्वर द्वारा की गयी रचना की अनुकूलता

---

८५. ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः।
—अथर्व सं०–४.३५.७.

के कारण ही है। अतः उन-उन पदार्थों के वर्णन द्वारा मन्त्र ईश्वर की भी सूचना देता है।[८६]

इस प्रकार से ओदन अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों (ब्रह्मरूप) का उपभोग शरीर द्वारा किया गया है। शरीर भी ओदन है। इसे ऐसे भी समझ सकते हैं कि हमारे शरीर में एक पदार्थ जड़ है जिसे शरीर भी कहते हैं दूसरा पदार्थ चेतन है जिसे आत्मा कहते हैं। चेतन आत्मा द्वारा शरीर संचालित है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मा से संसार में ब्रह्माण्ड संचालित है। जड़ वस्तु से जड़ और परमेश्वर चेतन है। चेतन परमेश्वर द्वारा सम्पूर्ण जड़ ब्रह्माण्ड संचालित है। जड़ वस्तु से जड़ वस्तु का ही उपभोग हो सकता है, परन्तु चेतन आत्मा के रहने पर ही। अभिप्राय यह हुआ कि जड़ शरीर से (जो कि चेतन आत्मासे युक्त है।) जड़ संसार का (जो कि चेतन परमात्मा द्वारा संचालित है) उपभोग करना चाहिए और चेतन आत्मा को चेतन परमात्मा का प्राशन करना चाहिए।

इसीलिए आगे एक मन्त्र में इस विषय में निर्देश दिया गया है कि–"पूर्वकाल में विद्वान् पुरूष जिज्ञासु को उपदेश करे कि हे पुरूष। जिस शिर से पूर्व मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण इसका प्राशन करते रहे उससे दूसरे सिर से यदि तू प्राशन करता है तो तेरी सन्तति ज्येष्ठ क्रम से मरेगी। इस प्रकार ब्रह्मौदन का तत्त्वज्ञानी विद्वान् दूसरे पुरूषों को उपदेश करे। तो फिर मैंने न नीचे के, न पराङ्मुख के और न अपनी तरफ के ओदन

---

८६. अथात्र यस्य–यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य–तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधारस्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति। कुतः ? निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्मिन् कार्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात् कार्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च, यत्र खलु व्यावहारिकोऽर्थो भवति, तत्रापि ईश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च। एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे तस्मिन् कार्यार्थसम्बन्धात्सोऽपि अर्थ आगच्छतीति। –ऋग्वेदादि०–स्वामी दयानन्द

का प्राशन किया है। अर्थात् उसके एकांगी रूप का मैंने प्राशन नहीं किया। प्रत्युत बृहस्पति रूप शिर से इस ओदन का मैंने प्राशन किया है। उसी शिर से मैंने इसको प्राप्त किया है। यह ओदन प्राशन के बाद भी समस्त अंगों वाला बना रहता है। सब पोरुओं वाला बना रहता है, समस्त शरीर वाला बना रहता है। जो इस रहस्य को जानता है वह स्वयं भी सर्वांग सब पोरुओं वाला तथा शरीर की समस्त शक्तियों वाला बना रहता है।[८७]

ब्रह्मोदन को यदि बृहस्पति रूप शिर द्वारा प्राशन नहीं किया तो प्राशनकर्त्ता को अभिज्ञ बताया गया है कि तेरी प्रजा जो तेरे शरीर के भिन्न–भिन्न अवयव और अंग हैं, उनमें से ज्येष्ठ अंग जो कि शिर है, वहां से प्रारम्भ कर, अवयव और अंग प्रत्यंगरूपी तेरी प्रजा सदा पुनर्जन्मों द्वारा मृत्यु का ग्रास बनी रहेगी। शरीर है जीवात्मा की पुरी और इस पुरी में रहने वाले अंग प्रत्यंग तथा अन्य शक्तियां जीवात्मा की प्रजाएं हैं। सिर के विकृत हो जाने पर सब अंग–प्रत्यंग आदि विकृत होकर विनाशोन्मुख हो जाते हैं। इससे विधिपूर्वक ब्रह्मौदन के आध्यात्मिक प्राशन के लिए प्राशनकर्त्ता को प्रेरित किया है। इसलिए ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है कि ब्रह्म न केवल इधर अर्थात् पृथ्वी पर सक्रिय हो रहा है अपितु वह सर्वव्यापक होकर सक्रिय है।[८८]

प्राशनकर्त्ता यह कहता है कि मैंने प्रत्यंग भाव अर्थात् प्रतिकूल भाव में रहते हुए ब्रह्मौदन का प्राशन नहीं किया–अपितु उसे सर्वानुग्रहकारी रूप में जानकर उसका मैंने प्राशन किया है। बृहस्पति और ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर का पारस्परिक सम्बन्ध है।

८७. ततश्चैव मन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। बृहस्पतिना शीर्ष्णा तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद।। —अथर्व० सं०–११.३.३२

८८. तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। —यजु० सं०–४०.५

"बृहस्पति में ब्रह्म प्रविष्ट होता है।[८९] प्राशनकर्त्ता कहता है कि मैंने सिर को बृहस्पति जानकर ब्रह्मोदन का प्राशन किया है, अर्थात् मेरा सिर सामान्य सिर नहीं, प्रत्युत वह बृहस्पति रूप है, जिसमें ब्रह्म प्रविष्ट है। इसी प्रविष्ट ब्रह्म का प्राशन मैंने सिर द्वारा किया है। सिर में आज्ञाचक्र और सहस्रारकचक्र है। इन चक्रों में परमेश्वर अर्थात् ब्रह्मोदन का प्राशन योगिजन करते हैं। यदि सिर द्वारा ब्रह्मोदन का प्राशन अर्थात् साक्षात् कर, सिर में ब्रह्मप्रधान विचार और संकल्प स्थित हो जायें तो समग्र शरीर और शरीरावयव ब्राह्मी शक्ति से आप्लुत हो जाये। समस्त व्यवहार ब्राह्म शक्ति से आविष्ट हो जायें। ब्रह्मौदन को सर्वांग सम्पूर्ण कहा है, इसका प्राशनकर्त्ता भी सर्वांग सम्पूर्ण हो जाता है। जीवन में दो प्रकार के ओदनों की आवश्यकता है। एक की तो शारीरिक जीवन के लिए आवश्यकता है और दूसरे की आत्मिक शक्ति के लिए, प्राकृतिक ओदन के लिए, शरीरोपयोगी है, और ब्रह्मोदन आत्मोपयोगी है। इसलिए इस सूक्त को द्विविध ओंदन का सम्मिश्रित वर्णन समझना ही उपयुक्त होगा।

इस सम्पूर्ण अध्याय में विभिन्न नामों द्वारा परमतत्त्व का वर्णन हुआ है। एक स्थल पर उसके शरीरावयवों में से "सहस्राक्षाय" से सहस्रों आंखों वाले से उसके साकार रूप का प्रमाण नहीं प्राप्त होता अपितु वहां उस परमेश्वर की व्याप्ति की शक्ति को दर्शाया है। उस परमतत्त्व को ओदन रूप में अत्यन्त विस्तार से वर्णित किया है। उसके भौतिक ओदन की ही भांति स्वरूप और परिपक्व करने की विधि का भी बड़ा ही रोचक और आलकारिक वर्णन हुआ है। उस सर्वोच्च विराट स्वरूप को देखकर अनुमान कर अपने अहंभाव को अपास्त कर सकते हैं। तथा अहंकार रूपी दोष से जो कि समस्त दोषों की जननी के रूप में है उससे बचकर अपनी उन्नति में सहायक हों। ऐसी परम शक्ति को हमें स्वीकार कर उसका आराधन आज्ञापालन करना चाहिए।



८९. अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशत्।।
—अथर्व० सं०–१५.१०.५.

चतुर्थ अध्याय

कर्म-इन्द्रियां

ब्रह्म से कर्म का उद्‌भव

कर्म का उद्‌भव ब्रह्म से हुआ है।[1] जब प्रलयकाल में समस्त कार्यरूप जगत् कारण में लीन था तब कारण रूप को कार्य में परिणत करने के लिए सर्वप्रथम कर्म की आवश्यकता थी, क्योंकि कर्म के अभाव में किसी भी कार्य को कारण रूप से कार्य रूप में परिवर्त्तित नहीं किया जा सकता।जैसे दौड़, दौड़ने वाले के अभाव में कभी भी पूरी नहीं हो सकती। ऐसे ही कर्म की उत्पत्ति के लिए ब्रह्म कर्त्ता हुआ और सर्वप्रथम कर्म सृष्टि उत्पत्ति रूप किया। मन्त्र में इसी भाव का आलंकारिक वर्णन विवाह द्वारा बराती रूप में तप और कर्म के अस्तित्व का वर्णन हुआ है।

"प्रलयरूपी महासमुद्र के भीतर तप और कर्म ही विद्यमान थे। वे ही वर पक्ष के लोग थे। ब्रह्म उनमें ज्येष्ठ वर रूप में हुआ था।[2]

परमेश्वर के सम्बन्ध में तप है ज्ञान[3] वह प्राणियों के कर्मों और तदनुरूप सृष्टि की रचना का पर्यालोचन रूपी तप करता है। परमेश्वर के सम्बन्ध में कर्म भी वह कर्म नहीं जिसमें कि स्थान परिवर्तन या कुछ क्रिया करने के लिए हस्तादि अवयवों और उनका आकुंचन, प्रसारण आदि करना होता है। उस व्यापक के लिए स्थान परिवर्तन निरर्थक है। परमेश्वर में कर्म या क्रिया स्वाभाविकी है।[4] यदि वह निष्क्रिय होता तो सृष्ट्युत्पत्ति,

---

१. कर्म ब्रह्मोद्‌भवं विद्धि। गीता—३.१५.

२. तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे। त आसन् जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरो भवत्। अथर्व सं०—११.८.२.

३. यस्य ज्ञानमयं तपः। मुण्ड० उ०—१.१.६.

४. परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। वे० उ०—६.८.

स्थिति और प्रलय भी नहीं कर सकता था। इसलिए वह विभु चेतन होने से क्रियावान् भी है।

"परमेश्वर में स्थान परिवर्तन रूप क्रिया का निषेधपूर्वक क्रिया विशेष का समर्थन है।[५]

कर्म मानसिक भी होते हैं, चाहे उन कर्मों के करने में मन शरीर से बाहर गति न करता हो तब भी वे मानस बिचार रूप कर्म कहलाते हैं।

सृष्टि रचना का प्रयोजन

सृष्टि की रचना भोग और अपवर्ग के लिए ही होती है।[६] मनुष्येतर प्राणियों के लिए भोगार्थ, और मनुष्यों के लिए भोगार्थ और अपवर्गार्थ। अतः मनुष्यों के कर्म इस प्रकार के होने चाहिए जो कि मनुष्यों को अपवर्ग की ओर बढ़ाने वाले हों। दुरित कर्मों का त्याग और भद्र कर्मों का उपादान करते हुए मनुष्य अपवर्ग अर्थात् मोक्ष का अधिकारी बनता है। भद्र कर्म यद्यपि सकाम हैं, क्योंकि भद्र कर्मों में भी अपवर्ग की कामना बनी रहती है भद्र कर्म परिणाम में सुखदायक और कल्याणकारी होते हैं परन्तु भद्रकर्म अपवर्ग की प्राप्ति में सहायक हैं, बाधक नहीं। भद्र कर्मों के सम्बन्धों में कहा है कि "मनुष्य जीवन भर भद्र कर्मों को करता रहे। भद्र कर्म मनुष्य को संसार में लिप्त नहीं करते।[७]

तपः अर्थात् तपोमय जीवन भी अपवर्ग में सहायक होता है। तप तो यम नियमों आदि में एक अंग है। जो योगांग है। तप द्वारा शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है तथा तमोगुण और रजोगुण का ह्रास होता है।[८]

परमेश्वर के तप और कर्म द्वारा परमेश्वर और प्रकृति का सम्बन्ध

---

५. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। —यजु० सं०—४०.५.

६. भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। —यो० २.१८.

७. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ॅं समाः।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। —यजु० सं०—४०.२.

८. कायेन्द्रियसिद्धिशुद्धिक्षयात्तपसः।। —योग०—२.४३.

पति पत्नी रूप में होकर प्रकृति में पत्नीत्व धर्म प्रकट करता है, जायात्वरूप नहीं। प्रकृति में जायात्व रूप तब प्रकट होगा जब कि प्रकृति में परमेश्वर की शक्ति के आधान द्वारा सृष्टि पैदा होगी। कहा भी है कि "जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः"। अतः जनिक्रिया के सम्बन्ध से प्रकृति में जायात्व धर्म प्रकट होता है। सृष्टि दो प्रकार की होती है, जड़ और चेतन। जड़ जगत् चेतन जगत् के उपभोग और अपवर्ग के लिए ही है। अतः चेतन जगत् के तप और कर्म प्रकृति के सम्बन्ध के लिए परमश्वेर के तप और कर्म हेतुभूत होकर वरपक्ष के "वराः" अर्थात् बरात का निर्माण करते हैं।

कर्म से तप की उत्पत्ति

"प्रलयरूपी महासमुद्र के भीतर तप और कर्म ही विद्यमान थे। तप निश्चय ही कर्म से उत्पन्न हुआ है। वे ऋतु आदि उस कर्मरूपी बड़ी शक्ति की उपासना करते थे, प्रार्थना या प्रतीक्षा करते थे।[९]

उक्त मन्त्र में कर्म की महत्ता और जीवन में अपरिहार्यता स्पष्ट वर्णित है क्योंकि इसमें तप जो कि समस्त वांछित पदार्थों का आधार है, तप जो कि प्राणियों को पतन से बचाता है, तप जो कि व्यक्ति को महान् बनाता है ऐसे तप की उत्पत्ति भी कर्म से ही हुई है। कर्म के बिना अर्थात् निष्क्रिय व्यक्ति कभी एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकता।[१०] अतः वह प्रतिक्षण, चाहे वह मानस विचार रूप कर्म ही क्यों न हो, कर्म अवश्य कर रहा होता है। यह बात भिन्न है कि वह किस प्रकार का विचार रूप कर्म अथवा दृष्टिगोचर कर्म करता है। आगे मन्त्र में तीन श्रेणियों के कर्म-फलों का उल्लेख किया गया है।

"शरीर में सर्वत्र गति करने वाला जीवात्मा, मुख्य मारने वाले

---

९. तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत। —अर्थव० सं०—११.८.६.

१० न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। —गीता—३.५.

परमेश्वर द्वारा अर्थात् उसके नियमानुसार तीन प्रकार के विविधि स्थानों में जाता है। एक प्रकार के कर्मों द्वारा 'अदः' अर्थात् वहां मोक्ष को जाता है या प्राप्त होता है। और एक प्रकार के कर्मों द्वारा 'अदः' अर्थात् वहां निम्न योनि को प्राप्त करता है और इह अर्थात् यहां मनुष्य योनि में एक प्रकार के कर्मों द्वारा सुख–दुख का सेवन करता है।[११]

मन्त्र में तीन प्रकार की गति बतायी गई है। एक गति मोक्ष को प्राप्त कराती है और एक निम्न योनियों में डालती है तथा तीसरे प्रकार की गति इस संसार में भी मनुष्य योनि को पुनः प्राप्त कराती है।

पुण्य कर्मों द्वारा पुण्य लोक की प्राप्ति

इसमें कर्मों के फल को व्यक्त करके सुकर्मों की ओर मनुष्य को प्रेरित किया है, सुकर्मेतर कर्म किये जायेंगे तो निम्न योनियों में जाना पड़ेगा–यह परमेश्वर की व्यवस्था है। इसी बात को गीता में इस रूप में कहा है कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं–कर्म, विकर्म और अकर्म, जिनकी गतियां अति गहन या गम्भीर हैं।[१२]

प्रश्नोपनिषद् में स्पष्ट तीन प्रकार के कर्मों से तीन गतियों का उल्लेख आया है।

'पुण्य कर्मों के द्वारा व्यक्ति पुण्य लोक को प्राप्त करता है और पाप कर्म के द्वारा पापमय लोक को, तथा दोनों पाप और पुण्यकर्मों के सम्मिश्रित अनुपात में मनुष्य लोक की प्राप्ति होती है।[१३]

कर्मोद्भव तप से व्यक्ति उच्च बनता है।

---

११. प्रथमेन प्रमारेण त्रेधाविष्वङ् वि गच्छति।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन निषेवते।
—अथर्व० सं०–११.८.३३.

१२. कर्मणो अपि बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः। —गीता–४.१७.

१३. पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।
—प्र० उ०–३.३.७.

"यह पृथिवी पहली समिधा है, द्युलोक दूसरी है और अन्तरिक्ष तीसरी है। इस प्रत्येक समिधा से ब्रह्मचारी क्रमशः निज शारीरिक, आत्मिक औरमानसिक अग्नि को घोषित करता है। ब्रह्मचारी मेखला, श्रम, और तपश्चर्या से लोकों को परिपालित तथासुखों से पूरित करता है।[१४] ब्रह्मचर्य काल में श्रम पूर्वक तप का जीवन व्यतीत करना चाहिए। कर्म करने में जो क्लेश होते हैं, उनको आनन्द से सहन करने का नाम तप है। इन दोनों की सहायता से ही प्रत्येक उन्नति होती है शीतोष्ण सहन करने से शरीर का आयुष्य बढ़ता है। योगदर्शन का भाष्य करते हुए व्यास मुनि भी तप 'द्वन्द्व सहनं तपः" के सहन में ही अभीष्ट मानते हैं। हानि लाभ का ध्यान छोड़कर कर्तव्य--तत्पर रहने से फलसिद्धि तक कार्य करनें का उत्साह बना रहता है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक बल की वृद्धि का ही फल उच्चता प्राप्त होना है।

"ब्रह्मचारी विद्या बल को चाहता हुआ दोनों द्युलोक और भूलोक में विचरता है। उस ब्रह्मचारी में देव एक मन वाले हो जाते हैं। वह पृथिवी और द्युलोक को निज चित्त में धारण करता है वह अपने आचार्य को तपश्चर्या द्वारा प्रसन्न करता है।[१५]

मन्त्र में द्यावा पृथिवी को चित्त में धारण करना सम्भवतः माता--पिता के विचारों को धारण करना है। क्योंकि अथर्व के ही एक मन्त्र में द्यौ को पिता और पृथिवी को माता कहा है।[१६] यहाँ द्युलोक और पृथ्वीलोक सम्बन्धी ज्ञान भी अभिप्रेत हो सकता है।

ब्रह्मचारी को भूलोक की तथा द्युलोक सम्बन्धी विद्याओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए तथा तपश्चर्या के द्वारा विद्याग्रहण में

---

१४. इयं समित् पृथिवी द्यौद्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ।
—अथर्व सं०--११.५.४.

१५. ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवी दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति। —वही-११.५.१.
द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता। —वही २.२८.४.

प्रयत्नशीलता से आचार्य को प्रसन्न करता है। मनुष्य में दिव्य शक्तियों का निवास है, ब्रह्मचर्य, विद्याग्रहण, कर्म, तप द्वारा उन दिव्यशक्तियों का जागरण और विकास किया जाता है। ब्रह्मचारी के जीवन में इन शक्तियों के विकास में संमनस्कता हो जाती है। और आसुरी भावनाओं का अभाव हो जाता है। सातवें सूक्त में मन्त्र सात से उन्नीस तक मन्त्रों में यज्ञरूप कर्मों का वर्णन हुआ है। जिनके स्वरूपों की व्याख्या अथर्ववेद में नहीं हुई है। इनकी विशिष्ट व्याख्याएं पश्चाद्भावी ब्राह्मणग्रन्थों में विशेषकर शतपथ, ब्राह्मण में हुई है। यज्ञों के नाम इस प्रकार है–

राजसूय, वायपेय, अग्निष्टोम, अर्क, अश्वमेध, जीवबर्हि,[१७] अग्नयाधेय, कामप्र, द्रष्टव्य ?[१८] अग्निहोत्र, श्रद्धा और वषट्कार, स्वाहाकार व्रत और तप दक्षिणा, यज्ञ और कूप तालाब बनवाने आदि सब परोपकार के पुण्य कार्य उत्कृष्टतम सर्वोपरि प्रतिपाद्य परब्रह्म में ही आश्रित हैं। अर्थात् वह ईश्वर न हो तो ये समस्त कर्म भी न हों।[१९] ये सभी कर्म उसी की प्रेरणा और उसकी प्राप्ति के लिए ही किये जाते हैं।

एकरात्र, द्विरात्र, सद्यस्की, और प्रक्री नामक विशेष सोमयाग,[२०] चतूरात्र, पंचरात्र, षड्रात्र, सप्तरात्र, षोडशी भाग,[२१] अतिरात्र, द्वादशरात्र, साह्न, विश्वजित्, अभिप्ति[२२] विषुवन्त, उपहव्य,[२३] चतुर्होतार, आप्रिय, चातुर्मास्य[२४]

उत्तम शुभ, सत्यवाणी, उत्तम भक्ति, या फल की प्राप्ति,

१७. अथर्व० सं०—११.७.७.

१८. वही–११.७.८.

१९. अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः।
दक्षिणेष्टं पूर्त्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः। —वही–११.७.९.

२०. वही—११.७.१०.

२१. वही—११.७.११.

२२. वही—११.७.१२.

२३. वही–११.७.१५.

२४. वही–११.७.१६.

कल्याणमय वृद्धि, अन्न, शक्ति, अमृत, बल और सब आत्मा में साक्षात् अनुभव होने वाली अभिलाषाएं जो काम्य फल से अथवा पूर्ण काम या सर्वकामनाएं परमात्मा के दर्शन से तृप्त हो जाती हैं वे सब परमात्मा में ही हैं।[२५]

ऋत, असत्य, तप, राष्ट्र, श्रम, धर्म और कर्म, भूत भविष्य, वीरता, लक्ष्मी तथा बलवान में शारीरिक मानसिक आध्यात्मिक बल उच्छिष्ट परमेश्वर में आश्रित है।[२६] पाप कर्मों की विभीषिका को वर्णित कर पापकर्म के वर्जन की विभिन्न देवों पुरूषों व प्राकृतिक पदार्थों से प्रार्थना कर शुभ कर्मों की ओर मनुष्य को प्रेरित किया है। वेद की एक शैली है जिसके अन्तर्गत साक्षात् या प्रत्यक्षतः कुछ न कहकर परिणामात्मक भय या सुफल द्वारा मनुष्यों के करणीय कर्तव्यों का बोध सम्यक् प्रकार से वर्णन करता है।

अदानी, स्वार्थी, दुष्ट पुरूषों, सर्प के समान छिपकर घुस जाने वाले विषप्रयोक्ताओं, अपने को पुण्यात्मा बताने वाले दुरात्मा पितरों का हम कथन करते हैं, और एक सौ एक प्रकार की मृत्युओं का हम वर्णन करते हैं। वे सब हमें पाप कर्म से मुक्त करें।[२७]

मन्त्र में एक सौ एक प्रकार की मुत्युओं को देखकर भी जो दुष्कर्मों से नहीं बचता वह निश्चित ही अपने ही कर्मों द्वारा मारा जाता है। और जो इन मुत्युओं को देखकर अपने दुष्कर्मों को छोड़कर सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है वह उत्कृष्ट श्रेणी में आता है।

हे राजाओ और विद्वान् पुरूषो ! आप लोग दक्षिण दिशा से आओ। पश्चिम से पूर्व से उत्तर से और हम लोगों के समक्ष से आकर उपस्थित

---

२५. सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामा कामेन तातृपुः। —अथर्व० सं०—११.७.१३.

२६. ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले। —वही—११.७.१७.

२७. अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्।
मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः। —वही—११.६.१६.

होओ। शक्तिशाली समस्त विद्वान् पुरूष एकत्र होकर अपने आदर्श जीवनों से हमें पापकर्म से मुक्त करें।[२८]

सम्पूर्ण छठे सूक्त में पाप कर्म से मुक्त होने के लिए स्तुति और इष्टफल प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएं की गई हैं। इनमें जड़ देवताओं से प्रार्थनाएं की गई हैं जो कि सुन और समझ नहीं सकते और न ही पूरी कर सकते हैं। अतः प्रो० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड ने अपने अथर्ववेद भाष्य में ईश्वर का अध्याहार करके मन्त्रों का अर्थ किया है। जब कि आचार्य सायण, जयदेव विद्यालंकार और श्रीकण्ठ शास्त्री, श्री पाददामोदर सातवलेकर ने उन जड़ देवताओं से ही प्रार्थना द्वारा आह्वान किया है–

वनस्पति, औषधि, अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति, सूर्य,[२९] राजा, वरूण, मित्र, विष्णु, भग, अंश, विवस्वान्,[३०] देव, सविता, धाता, पूषा, त्वष्टा, अग्रिय[३१] गन्धर्व, अप्सराएं, अश्विनौ (द्यावा-पृथिवी अथवा माता-पिता), ब्रह्मणस्पति, अर्यमा,[३२] अहोरात्र, (दिन और रात), सूर्य, चन्द्र आदित्य,[३३] वायु, मेघ, अन्तरिक्ष, दिशाएं, आशाएं,[३४] उषा, सोम,[३५] पार्थिव आरण्य पशु, पक्षी[३६] भव, शर्व, रूद्र, पशुपति,[३७] द्युलोक, नक्षत्र, भूमि, यक्ष, (पूज्य स्थान) पर्वत, समुद्र, नदी, वेशन्त, (जलाशय),[३८] सात ऋषि, दिव्य जल, प्रजापति, यम, पितर,[३९] दर्भ, भग, यव,[४०] हायन, संवत्सर, ऋतु, मास[४१] सत्यसन्धान, ऋतावृध,[४२] इत्यादि देवों से पाप कर्म से मुक्त करने की प्रार्थना वर्णित हैं।

---

२८. एत देवा दक्षिणतः पश्चात् प्राञ्च उदेत।
पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः।
अथर्व सं०–११.६.१८.

२९. वही–११.६.१.
३०. वही–११.६.२.
३१. वही १.६.३.
३२. वही–११.६.४.
३३. वही–११.६.५.
३४. वही–११.६.६.
३५. वही–११.६.७.
३६. वही'११.६.८.
३७. अर्थव० सं०–११.६.६.
३८. वही–११.६.१०.
३९. वही–११.६.११
४०. वही–११.६.१५.
४१. वही–११.६.१७.
४२. वही–११.६.२०.

कर्मोद्भव तप द्वारा ब्रह्मचारी, देवगण, विद्वान् पुरूष, मृत्यु को भी परे धकेल देते हैं और सुख को प्राप्त करते हैं।[४३] सुकर्मों के करने से कोई भी संसार का वैभव ऐसा नहीं है जो प्राप्त न हो सके। सुकर्मा व्यक्ति सुकृत लोक को प्राप्त होता है।

यह विशाल पृथिवी अन्नादि देने वाली शुभ संकल्प वाली होकर छेदन भेदन करने वाले राजभक्त को स्वीकार करे और उसके पश्चात् हम राष्ट्रवादी जन सुकृत के लोक को प्राप्त करें।[४४]

मन्त्र में उत्तम शासन के करने वाले दिव्यगुणी मनुष्य और प्रसन्नचित्त प्रजा के कारण पृथिवी को मही, देवी और तथा सुमनस्यमाना कहा है। सुकर्मी ही सुकर्मियों के लोक को प्राप्त होते हैं। एक मन्त्र में कहा गया है कि परमेश्वर की आज्ञा में रहकर ही कर्मों का सम्पादन करना चाहिए।

"दिव्युगणों वाले तथा जगदुत्पादक सर्वप्रेरक परमेश्वर की प्रेरणा में रहकर सब मनुष्यों को कर्म करने चाहिए।[४५]

मनुष्य को कर्मशील होने के साथ ही साथ वेदोक्त परमेश्वरीय आज्ञा का पालन करते हुए ही सुकर्मों की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए। जो वेदसम्मत न हो ऐसे कर्म का परित्याग करना अभीष्ट है।

एक मन्त्र में निर्देश है कि शुभ गुण कर्म, स्वभाव से स्त्री और पुरूष दोनों ही उत्तम लोक को प्राप्त करते हैं।

ये निष्पाप, दान, संगति और पूजा के योग्य स्त्रियां एकत्र हों और हमें उत्तम सन्तान, बहुत से पशु प्रदान करें। परमेश्वर-सानिध्य का

---

४३. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्। —वही—११.५.१६.

४४. इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना।
अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्। —वही—११.१.८.

४५. देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः। —अथर्व० सं०—६.२३.३.

परिपाक करने वाला मनुष्य पुण्य आचारवान् पुरूषों के उत्तर लोक को प्राप्त हो।[४६]

अच्छे कर्मों से आचारवान् पुरूषों के उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। अगले मन्त्र में कहा गया है कि कर्मशील विद्वान् व्यक्तियों का ही संग करना चाहिए तथा उनको अपने यहां बुलाकर सेवा सुश्रूषा आदि से सत्कृत करना चाहिए।

हे सौम्यगुण युक्त राजन् ! तेरे समीप जितने उत्तम ब्रह्म के ज्ञानी ब्राह्मण विद्वान् आवें और बैठें, उनके सद्ज्ञान को तू प्राप्त कर सदा संकल्प कर कि ऋषियों की सन्तानों और शिष्यों को, जो कि तप से द्विजन्मा रूप में उत्पन्न हुए हैं उनको मैं उत्तम यज्ञ सम्पादन करने वाले ब्रह्मोदन यज्ञ में बुलाऊं।[४७]

ऋषि और देव रूप में इन्द्रियों का कथन

मनुष्यों के शरीर में शुभ कर्मों को समुचित सम्पादनार्थ दो प्रकार की इन्द्रियां स्वतः (परमेश्वर प्रदत्त) प्राप्त हैं। जिनको कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के नाम से अभिहित किया जाता है। ये कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां संख्या में क्रमशः पांच पांच हैं। कर्मेन्द्रियां वे इन्द्रियां हैं जो कि बाह्य कर्मों को कर सकती हैं। जैसे–हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ और वाक्। तथा ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य वस्तुओं का यथावत् ज्ञान कराना धर्म है। अतः इन्हें ज्ञान कराने से ज्ञानेन्द्रियां कहते हैं। वे हैं'आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा। इन ज्ञानेन्द्रियों को ऋषि भी कहा गया है।[४८]

---

४६. शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चसमव सर्पन्तु शुभ्राः।
अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम्।
—वही—११.१.१७.

४७. सोम राजन्त्संज्ञानमा वपैभ्यः सुब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान्।
ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान् ब्रह्मौदने सुहवा जोहवीमि।
—वही—११.१.२६.

४८. सप्तऋषयः भूतकृतस्ते। —अथर्व सं०—११.१.१.

कुछ विद्वान् मन को भी इन्द्रिय के रूप में स्वीकार करते हैं। आध्यात्मिक जगत् में सात ऋषि हैं जो कि शरीर का संचालन करते हैं।[४९] ये सात ऋषि हैं–पांच ज्ञानेन्द्रियां, एक मन और बुद्धि। परन्तु इन द्वारा प्राप्त ज्ञान को स्वार्थ भावना तथा लोभ, काम, क्रोध आदि वृत्तियां विकृत कर देती हैं। किन्तु सात्त्विक व्यक्ति को इन सात ऋषियों द्वारा प्राप्त ज्ञान मूलतः यथार्थ होता है। इन्द्रियां ज्ञान प्राप्त कर सुकर्म की ओर का मार्ग कर्मेन्द्रियों के लिए प्रशस्त कर देती हैं। अतः ज्ञानेन्द्रियां कर्मेन्द्रियों के लिए सहायक हैं और कर्माधार का कार्य करती हैं। तथा कर्मेन्द्रियां भी कर्म जन्य मृदु और कटु अनुभव द्वारा ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान को परिपक्व करने में सहायक हैं। ये दोनों एक दूसरे के कार्यों में साधन बनकर कार्य की सफलता करती हैं, बाधक नहीं है। किन्तु ये विषयों के प्रति आसक्त अथवा उपभोग्य बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं। अतः इनको संयमित कर अपने कर्म में यथोचित उपयोग कर साधक बनाना चाहिए। तब ये बाधक नहीं है और इसके विपरीत यदि ये संयमित नहीं हैं तो ये प्रत्येक कार्य में बाधक बनकर खड़ी रहती हैं। इसी को गीता में भी कहा है कि–जो अपनी समस्त इन्द्रियों को संयमित करके मन से मेरा ही स्मरण ध्यान करता है वह स्थित प्रज्ञावान् पुरूष है।[५०]

जो उपर्युक्त उपायों के विपरीत गमन करता है वह किन स्थितियों को प्राप्त होता है। वह निम्न श्लोकों में वर्णित है–

सर्वप्रथम पुरूष इन्द्रियों से दृष्ट वासनायुक्त विषयों का स्मरण करता है, स्मरण से परिपक्व मस्तिष्क वाला होकर संग को, साथ को चाहने लगता है और संग से प्राप्ति की कामना तीव्र होती रहती है। कामना के अपूर्ण होने में बाधक तत्त्वों के प्रति क्रोध की उत्पत्ति होना स्वाभाविक ही है, तब क्रोध करता है।[५१] क्रोध से मोह अधिक पुष्ट होता जाता है।

---

४९. सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे। —यजु० सं०–३४.५५.

५०. तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। —गीता–२.६१

५१. ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते। —वही–२.६२.

सम्मोह के कारण वह अधीत ज्ञान के कणों को भी स्मृति पटल से विस्मृत कर बैठता है और स्मृतिभ्रंश से बुद्धि में विवेक करने की शक्ति का, विनाश होकर स्व का, अपने आप का नाश कर लेता है।[५२]

यह परिणाम इन्द्रियों के असंयमित होने से व्यक्ति को देखने पड़ते हैं। इसीलिए इन्द्रियां जो बाधक बन सकती हैं वे साधक बन जायें।

इन इन्द्रियों को देव भी कहा गया है तथा उनकी उत्पत्ति देवों से पूर्व हुई वर्णित है।

पहले अर्थात् सृष्ट्यारम्भ काल में व्यापक दिव्य तत्त्वों से दश व्यष्टि दिव्य शक्तियां साथ--साथ उत्पन्न हुईं। जो कोई निश्चयपूर्वक उन्हें जानें वह ही आज बड़ी बात कहेगा।[५३]

आचार्य सायण ने देवाः का अर्थ ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां किया है। इन्हें देव इसलिए कहते हैं क्योंकि--ये अपने-अपने विषय का द्योतन, प्रकाशन कराती हैं।[५४]

जब इन्द्रियां बहिर्मुख होती हैं तब अन्दर का आत्मा दिखाई नहीं देता और जब उनका नियमन संयमन करके मन को एकाग्र कर चिन्तन मनन निदिध्यासन करता है तब वह आत्मा का आभास या अनुभव करता है।[५५]

कल्पना करें कि यदि परमेश्वर इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बना देता तो क्या हम जीवन की कल्पना कर सकते थे ? नहीं। आंखें अच्छे बुरे

---

५२. क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति। --वही--२.६३.

५३. दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत।
--अर्थव० सं०--११.८.३.

५४. दश संख्याका देवाः--दीव्यन्ति स्वस्वविषयं प्रकाशयन्तीति देवा ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि। --अथर्व सं०--११.८.३.

५५. परांचिखानि व्यतृणत्स्वयंभूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
--कठ० उ०--२१.

दृश्य देख नहीं पातीं। नाक भी क्या घ्राण करती, रक्त, मांस अर्धपक्व अन्न दुर्गन्धयुक्त मल, कान मशीन की ही भांति घड़घड़ की आवाजें निरन्तर सुनता रहता। परमेश्वर ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर हमें इन समस्त कष्टदायक नरक सदृश वस्तुओं से बचा दिया है। परमेश्वर ने ही इन इन्द्रियों का निर्माण किया है।

जब शिल्पी परमेश्वर ने शरीर में इन्द्रिय आदि के विविध छिद्र निर्मित किये उस तवष्टा ने जो कि समष्टि त्वष्टा अर्थात् सूर्य का उत्कृष्ट पिता है, तब इन्द्रियादि देव मरणधर्मा शरीर को घर करके पुरूष में आ प्रविष्ट हुए।[५६]

शरीर की सम्पूर्ण संरचना के पश्चात् इसमें किन–किन गुणों का और किन–किन दुर्गणों का प्रवेश हुआ यह आगे के मन्त्रों में दर्शाया है। इनके नाम निम्न हैं–

निद्रा, तन्द्रा, मृत्यु, पाप प्रकृति, नाना पाप के भाव, देवभाव अर्थात् सात्त्विक गुण, वृद्धावस्था, गंजापन (सायण ने खालित्यं पाठ मानकर चित्त और इन्द्रियों का स्खलन) केश पकना आदि विकार,[५७] समृद्धि, असमृद्धि, दान के भाव और कृपणता के भाव, भूखं, तृष्णा,[५८] चोरी का भाव, दुष्टाचार, पापकर्म, सत्य, यज्ञ बड़ा यश, बल, क्षत्र, ओज,[५९] निन्दा, प्रशंसा के भाव, इच्छा, अनिच्छा, श्रद्धा, अश्रद्धा, दक्षिणा,[६०] विद्या, अविद्या, उपदेश्य, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद,[६१] आनन्द, हर्ष, विनोद, सुखों से उत्पन्न समस्त खुशियां, हंसना, चेष्टाएं, नृत्य[६२] आलाप, प्रलाप, अभीलापलपः, (जो प्रत्यक्ष में दूसरे की बातें सुनकर प्रत्युत्तर में या देखादेखी जो बातें कही जाती हैं) आयोजनाएं, प्रयोग अथवा प्रयोजन,

---

५६. यथा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरूषमाविशन्।। —अथर्व० सं०–११.८.१८.

५७. अथर्व० सं०–११.८.१९.

५८. वही–११.८.२०.

५९. वही–११.८.२१.

६०. वही–११.८.२२.

६१. वही–११.८.२३.

६२. वही–११.८.२४

६३. वही–११.८.२५.

विधान[६३] आशीष, प्रशिष, (प्रशासन, अपने छोटे और निम्न पुरूषों के प्रति आज्ञाएं) संशिष, (समान पुरूषों के प्रति सम्मति) विशिष, विभिन्न आज्ञाएं या मनोरथ, चित्त (विचार), संकल्प, विकल्प[६४] शरीर में प्रवेश करते हैं।

जो आपः और अन्य देवता प्राणादि, आत्मा की विशेष शक्ति ब्रह्म के साथ है, वह ब्रह्म शरीर में प्रविष्ट होता है। उसी शरीर में प्रजापति अर्थात् जीवात्मा अधिष्ठाता रूप से विद्यमान है।[६५]

ऐसे ही सूर्य चक्षु बनकर, वायु प्राण बनकर तथा अन्य देव भी पुरूष देह में विभक्त होकर बैठ गये।[६६]

उपर्युक्त मन्त्रगत गुणावगुण रूप कर्म पुरूष के शरीर में पूर्व से ही विद्यमान हैं। मनुष्य को चाहिए कि उनमें से जो उत्तम लोक को प्राप्त कराने वाले गुण अथवा जिन कर्मों से त्तद्गुण आयें वे कर्म करने चाहिए, और उनके लिए ये समस्त शरीर में निहित देवों का परिज्ञान करके उनसे उचित उपयोग कर जीवन को श्रेष्ठ मार्ग पर चलाना ही कर्म की पराकाष्ठा है। कर्मों के परिणाम के समबन्ध में कर्म से पूर्व सोचना व्यर्थ इसलिए है कि व्यक्ति कर्म करने में शिथिलता करता है और फल की ओर अधिक उन्मुख रहता है अतः फल तो पराधीन है परन्तु अवश्यम्भावी है, किन्तु कर्म स्वाधीन है और अपनी इच्छा पर है। फल के बिना कर्म में प्रवृत्ति भी सम्भव नहीं है और परिणाम से ही उत्साह का संचार होता है, रूचि उत्पन्न होती है तथा उत्तम फल की ओर अधिक ध्यान रहता है। पुनरपि फल को ही ध्येय नहीं बनाना चाहिए प्रत्युत कर्म की सम्यक् सिद्धि को ही अभीष्ट मानना श्रेयस्कर है। शान्ति तथा परमेश्वरासक्ति रूप उत्कृष्ट फल को लक्ष्य बनाने से सभी इन्द्रियां तथा उनके कर्म नियन्त्रित होते हैं।



६४. वही–११.८.२७.

६५. या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः। अथर्व स०–११.८.३०

६६. सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरूषस्य वि भेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये। वही–११.८.३१.

पंचम अध्याय

जीवन लक्ष्य क्या ? प्राप्ति के उपाय

मानव जीवन के लक्ष्य को हमारे ऋषि मुनि, दार्शनिक चिन्तकों ने मनुष्य स्वभाव के अनुभवों को साक्षात् कर दो स्वरूपों में विभक्त किया है। प्रथम स्वरूप, समस्त संसारस्थ प्राणी इस जीवन को सुखमय बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं अतः ऐहिक सुखाभिलाषा सर्वप्रथम जीवन का लक्ष्य प्रतीत होती है। द्वितीय रूप मरणोपरान्त अथवा परोक्ष प्ररिणति के विषय में प्रत्येक व्यक्ति चिन्तित, और धार्मिक व समाजिक परिवेश के अनुसार स्वतः किन्हीं स्वर्ग, मोक्ष आदि लोकों की कल्पना से अभिभूत है। अतः पश्चादभावी स्वजीवन को भी लक्ष्य मानता है। इसी भाव को वैशेषिक दर्शनकार कणाद मुनि ने इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी है। ऐहिक सुख को 'अभ्युदय' और पारलौकिक आनन्द को 'निःश्रेयस' नाम दिया।[1] परन्तु मनुष्यों के सम्पूर्ण जीवन का लक्ष्य परमतत्त्व, आत्मतत्त्व, अमृतमय लोक, स्वर्ग नाक आदि शब्दों से अभिहित लोक की प्राप्ति ही अभीष्ट है। बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मतत्त्व अथवा परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार ही जीवन का लक्ष्य माना है।[2]

दर्शनों में भी अप्रत्यक्ष लक्ष्य की ही ओर संकेत किया है। न्याय दर्शन मोक्ष को 'अपवर्ग' नाम से कहता है।[3] सांख्य शास्त्र में इसी तत्त्व को अत्यन्त पुरूषार्थ कहा है।[4] योग में 'कैवल्य' अभिधान से अभिहित किया है।[5]

---

१. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस्सिद्धि स धर्मः। वै० सू० –१.१.

२. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। बृ० उ०–२.४.

३. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। न्या० सू० १.१.२२.

४. अथ त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरूषार्थः। सां० सू०–१.१.

५. तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। योग सू०–२.५५.

अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड में जीवन के लक्ष्य के रूप में नाक, स्वर्ग, देवयान, ओदन रूप ब्रह्म की प्राप्ति, अमृत, सुकृतलोक, आदि को प्राप्त करना या उपभोग्य बनाना ही मनुष्य का चरम लक्ष्य है। मन्त्रों में जहां उत्कृष्ट उत्तम लोक की प्राप्ति लक्ष्य निर्धारित है वहां प्राप्ति का उपाय भी वर्णित किया है।

जीवन लक्ष्य के रूप में नाक

हे तेजस्वी विद्वन् पुरूष। समिधाओं से अग्नि जैसे प्रदीप्त होती है, वैसे तू भी विद्या से प्रदीप्त हो। यज्ञीय विद्वान् देवों को तू यहां (हमारे मध्य) ले आ। हे सब पदार्थों के ज्ञाता, उनके लिए (विद्यारूपी) हवि पकाता हुआ (प्रकाशित करता हुआ) उनको उत्तम दुःखरहित अतिशय आनन्द के धाम के नाम पर चढ़ा।[६] अर्थात् ऐसी स्थिति में पहुंच जहां दुःख का लेश न हो।

नाक का अर्थ है जिसमें आनन्दाभाव कभी भी न हो। कम् सुखम्, न कम् इति अकम्, न अकम् यत्र इति नाकः अर्थात् सुखाभाव का अभाव, व सुख स्वरूप तथा सुखाभाव का अभाव रूप अतिशय सुख, निरन्तर सुखावस्थिति ही नाक है।

अगले मन्त्र के अनुसार जिसको स्वर्ग लोक कहते हैं वह ऊर्ध्व नाक ही है। इसका वर्णन प्राप्त्युपाय सहित निर्दिष्ट है।

"समानजन्मा समस्त पुरूषों के साथ बढ़, बड़े पराक्रम के लिए इनको तैयार कर, ताप संताप रहित सर्वोपरि विद्यमान अतिशय सुख के शिखर पर चढ़, जिसको लोग स्वर्ग नाम से कहते हैं।[७]

इसके अनुसार अकेले व्यक्ति को उन्नति के पथ पर आरोहण

---

६. समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान् देवान् यज्ञियां एह वक्षः।
तेभ्यो हविः श्रपय जातवेद उत्तमं नाकमधिरोहयेयम्।
—अथर्व० सं०—११.१.४.

७. सांक सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैना महते वीर्याय। ऊर्ध्वो नाकस्याधिरोह विष्टप स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति। —वही—११.१.७.

नहीं करना चाहिए, प्रत्युत अपने समान पुरूषों को भी साथ में लेकर उन्नत होना चाहिए, उन्हें 'मोक्ष' जो कि बड़े प्रयत्न से प्राप्तव्य होने के कारण बड़ा पराक्रम चाहता है उस पराक्रम के लिए तैयार करना चाहिए। वेद में स्वर्ग और नाक में अभेद दिखाया गया है। जिसे लोग स्वर्ग कहते हैं, वह नाक तुम्हें प्राप्त हो। अर्थात् यह सामान्य स्वर्ग से उच्च स्थिति है क्योंकि स्वर्ग भोग कर पुनर्जन्म प्राप्ति आवश्यक है।

एक अन्य मन्त्र में भी नाकरूप उत्तम स्थिति की प्राप्ति की प्रेरणा दी गई है।

परिश्रम करने वाले, अतिथि सेवा के लिए ओदन पकाने वाले दूध का स्रावण करने वाले को, हे परमेश्वर ! तू जान, इसे सुख प्राप्त कराने वाले मार्ग पर अधिरूढ़ कर जिस मार्ग से जो उत्कृष्ट जीवन है उसको प्राप्त कर। सर्वोत्तम परमशक्ति रूप दुःख के स्पर्श से रहित विशेषतया रक्षक परमेश्वर तक यह रोहण करे।[८]

परमेश्वर से कहा गया है कि उक्त गुणयुक्त पुरूष को तू प्राप्त हो अथवा अपने उत्कृष्ट परम लोक को प्राप्त करा जहां कि दुःख के स्पर्श से रहित आनन्दमय स्वरूप में सदा स्थित और सात रश्मियों वाले सूर्य में अधिष्ठातृ रूप में स्थित यजनीय संगतियोग्य तथा आत्मसमर्पण योग्य परमेश्वर को तदनन्तर हम प्राप्त हों।[९]

विद्वान् सत्कर्मों का संचय करेगा और सत्कर्मों के अनुकूल चलकर देवयान पथों का अवलम्ब करेगा, तो अन्य जन भी तदनुरूप सत्कर्मी हो जायेंगे। तथा परमेश्वर को प्राप्त करने की प्रेरणा करेंगे।

---

८. श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम्।
येन रोहात् परमापद्य यद् वयं उत्तमे नाकं परमं व्योम।
—अथर्व सं०—११.१.३०.

९. समाचिनुष्वानुसम्प्रयाह्यग्ने पथः कल्पय देवयानान्।
एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ।
—वही—११.१.३६.

एक अन्य मन्त्र में भी ऐसे ही गुणी विद्वानों के अनुसरण की प्रेरणा दी गई है–

'दिव्यगुणी लोग जिस ज्योति द्वारा द्युलोक या शिरस्थ सहस्रारचक्र पर चढ़े हैं, ब्रह्म के प्रसादन के लिए वेदवेत्ताओं और ब्रह्मज्ञों को देय ओदन को अथवा ब्रह्मरूपी ओदन को जीवन में परिपक्व करके सुकर्मियों द्वारा प्रापणीय सहस्रार चक्र रूप लोक को या ब्राह्मी आलोक को प्राप्त हुए हैं, उस ज्योति द्वारा सुकर्मियों के इस लोक को हम प्राप्त हों अर्थात् स्वः पर आरोहण करके, हृदय में परमेश्वर का दर्शन करके उत्तम नाम की ओर हम जायें या उसे प्राप्त करें।[१०]

आध्यात्मिकार्थ में "द्यौः"[११] या 'दिव'[१२] सिर या मूर्धा तथा ज्ञान प्रकाश के वाचक हैं। 'ब्रह्मरूपी' ओदन इस अर्थ में ब्रह्म को सुकृतस्य लोकम्' कहना यथार्थ प्रतीत होता है। और मन्त्र के उत्तरार्ध में 'सुकृतस्य लोकम्' और उत्तमं नाकम्' एकाभिप्रायवाची प्रतीत होते हैं।

ब्रह्मौदन का परिपाक

ब्रह्मोदन को पकाकर नाक अर्थात् मोक्ष या ब्रह्म को प्राप्त करने का कथन हुआ है। ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों को पकाया ओदन देने मात्र से मोक्ष या ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव प्रतीत नहीं होती इसलिए ब्रह्म प्रसादनार्थ या ब्रह्मार्पण करके यह भावना अन्तर्निहित है। इस भावनानुसार ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों को दिया गया ओदन योगशास्त्रोक्त 'क्रियायोग' का अंग हो जाता है। अर्थात् उससे 'ईश्वर–प्रणिधान'[१३] हो जाता है।

सब क्रियाओं का परमगुरू परमेश्वर के प्रति अर्पण, अथवा उन

---

१०. येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम्
तेन गेष्म सृकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम्।
अथर्व सं०–११.१.३७.

११. शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत। –यजु० सं०–३१.१३.

१२. दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्।। –अथर्व सं०–१०.७.३२.

१३. तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। –योग सू०–२.१.

कर्मों के फल की अभिलाषा न करते हुए, उन्हें करना।[१४] इससे समाधि की प्राप्ति होती है तथा पंचक्लेश सूक्ष्म पड़ जाते हैं। ईश्वर के प्रति जिसने अपने सब भावों को अर्पित कर दिया है।[१५] उसे समाधि सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार 'ब्रह्मौदनं पक्त्वा' में ब्रह्म के प्रसादनार्थ इस भावना को अन्तर्निहित माना जाये तो यज्ञ नामक ब्रह्म की प्राप्ति भी सम्भव हो जाती है, तथा नाक अर्थात् मोक्ष की भी सिद्धि हो जाती है।

प्राण (परमेश्वर) रूप लक्ष्य

एक स्थल पर प्राण को ही परमेश्वर मानकर बताया गया है कि प्राण रूप परमेश्वर हम मनुष्यों के अन्दर दिव्य रूप में प्रतिष्ठित होता है। अन्दर प्रविष्ट उसे लोग उपहारों से सत्कृत करते हैं। वस्तुतः आन्तरिक यज्ञ यही है।

हे प्राण रूप परमेश्वर। जो तेरे इस स्वरूप को जानता है और जिसमें तू परमेश्वर रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, उसके लिए सब मनुष्य उस उत्तम लोक के उद्देश्य से भेंटें प्रदान करते हैं।[१६] इसमें परमेश्वर—ज्ञानी के सर्वपूज्य होने का उल्लेख है।

जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्राण का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग है। योगांगों में प्राणायाम भी एक अंग है जो कि उत्तरोत्तर सोपान की एक सोपान है। जिससे प्राणायाम मोक्ष की सिद्धि में अथवा परमात्मा की प्राप्ति में सहायक है। इसलिए आगामी मन्त्र में आते-जाते, ठहरते हुए प्राण को नमस्कार कहा है।

---

१४. ईश्वर प्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं, तत्फल सन्न्यासो वा।
—योग सू०—२.१. व्यास भाष्य

१५. समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।
ईश्वरार्पितसर्वभवस्य समाधिसिद्धिः।— वही—२.४५.

१६. यस्तेप्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिंल्लोक उत्तमे।।—अथर्व सं०—११.४.१८.

हे प्राण ! आते हुए तुझे नमस्कार हो, परे जाते हुए तुझे नमस्कार हो, स्थिर होते हुए नमस्कार हो तथा बैठे हुए तुझे नमस्कार हो।[१७]

प्राण के बिना शरीर की अवस्थिति भी सम्भव नहीं और शरीर के बिना धर्म, कर्म, मोक्ष की सिद्धि परमात्मा की प्राप्ति आदि समस्त शुभाशुभ कर्म असम्भव है। प्राणापान अर्थात् श्वासोच्छ्वास में नासिका द्वारा प्राण फेफड़ों के भीतर जाता, तथा भीतर से बाहर आता है। प्राणायाम की विधि के द्वारा उपासक शनैः शनैः स्थिरता को प्राप्त करता है अर्थात् श्वासोच्छ्वास की गति में विच्छेद अर्थात् कालिक अभाव हो जाता है, और कालान्तर के अभ्यास द्वारा पूर्ण गति विच्छेद हो जाता है। इन दो गतिविच्छेदों को अल्पकालिक और दीर्घकालिक कुम्भक कह सकते हैं।

आयते = पूरक, परायते = रेचक, तिष्ठते = आभ्यान्तर कुम्भक, आसीनाय = सम्भवतः बाह्य कुम्भक।[१८]

अल्पकाल और क्रमशः अधिकाधिक काल तक चित्त की स्थिरता के अनुसार परमेश्वर का दर्शन भी अल्पाधिक काल तक होने लगता है।

प्राण द्वारा जीवन को धारण करते हुए सत्यवादी होना चाहिए। सत्यवादी होने के लिए सर्वप्रथम अपने विचारों को सत्ययुक्त करना होगा जो मन में हो वही वाणी में और जो वाणी में हो वही कर्म में सच्चा सत्यवादी तो वही है और ऐसे सत्यवादी को प्राण उत्तम लोक की प्राप्ति कराता है।

प्राण निश्चय से सत्यवादी को उत्तम लोक में स्थापित करता है।[१९]

यहां स्पष्ट ही प्राण साधारण श्वास रूप प्राण नहीं है, अपितु यह परमसत्ता का वाचक है। प्राण को माता के गर्भ के जल से उपमित कर कहा है कि प्राण भी मेरे से दूर तथा अपरिचित न हो। मैं तुझे अपने से बांधता हूं।

---

१७. नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः। –अथर्व सं०–११.४.७.

१८. बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः। – योग सू०–२.५१.
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत। –अथर्व सं०–११.४.११.

हे प्राण ! मुझ से परांगमुख न हो, मुझसे पराया अर्थात् अपरिचित तू न होगा जीने के लिए, जैसे माता गर्भाशय के जल सम्बन्धी गर्भ को सुरक्षित रूप में बान्धे रखती है, वैसे जीने के लिए, हे प्राण तुझे अपने में सुरक्षित रूप में मैं बान्धता हूं।[२०]

व्यक्ति प्राण के प्रति कहता है कि तू मुझसे अपरिचित न होना, मेरे साथ सदैव संयुक्त रहना। मन्त्र में परमेश्वर के प्रति भी व्यक्ति इसी भावना को प्रकट करता है। परमेश्वर को धारणा ध्यान आदि उपायों द्वारा उपासक अपने साथ बान्धने का संकल्प करता है। जिससे लक्ष्य की पूर्ति करने में समर्थ हो सके।

ब्रह्मचारी द्वारा मोक्ष की प्राप्ति

ब्रह्मचारी ही सबसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ परमश्वर को प्राप्त कर सकता है।

उस ब्रह्मचारी से सबसे ज्येष्ठ परमेश्वर, और वेद ज्ञान प्रकट होता है, तथा ब्रह्मचारी की सब दिव्यशक्तियां अमृत अमर परमेश्वर के साथ मिल जाती हैं, परमेश्वरीय कार्यों के अनुरूप हो जाती हैं।[२१]

ब्रह्मचारी समस्त कर्मों को करने में समर्थ तथा अमृत का कारण वेद माता रूपी अर्थात् ज्ञान के अन्दर गर्भीभूत होकर मोक्षरूपी लक्ष्य प्राप्त करता है।

वेद विद्या को कर्तव्य कर्म को, लोक ज्ञान को प्रजाओं के पति गृहस्थी तथा राजा के कर्तव्यों को देदीप्यमान परमोच्च स्थिति वाले परमेश्वर को प्रकट करता हुआ, इनके यथार्थ स्वरूपों का कथन करता

---

२०. प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि।
—अथर्व० सं०—११.४.२६.

२१. तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्।
—वही—११.५.५.

हुआ अमृत होने की योनि अर्थात् कारण[22] में गर्भीभूत होकर इन्द्र पदवी को पाकर आसुर विचारों का तथा आसुर कर्मों का विनाश करता है।[23]

ब्रह्मचर्य के तप से ब्रह्मचारी अमृत अर्थात् अपवर्ग की योनि अर्थात् वेदज्ञान रूपी माता के गर्भ में वास कर उस ज्ञान के दुग्ध का पान कर व्यक्ति अमृत हो जाता है, जन्म मरण की परम्परा से दीर्घकाल के लिए मुक्ति पा लेता है।

ब्रह्मचर्य और तपश्चर्या के द्वारा दिव्य कोटि के विद्वान् मृत्यु को समाप्त करते हैं अर्थात् उस पर विजय पाते हैं, जन्म मरण से चिरकाल तक मुक्ति पाते हैं। इन्द्र पदवी वाला व्यक्ति भी ब्रह्मचर्य के कारण इन देवों के लिए मुक्ति के सुख को दर्शाता है।[24]

ब्रह्मचर्य के तप से ही मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है, बिना ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किये व्यक्ति अपने लक्ष्य में सफल नहीं होता। ब्रह्म अर्थात् वेद का ज्ञान और उसका आचरण ही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मौदन के प्राशन की विधि

ब्रह्मोदन का प्राशन पूर्व ऋषियों ने किस प्रकार से किया था यदि उससे विपरीत या इधर उधर से प्राशन अर्थात् अनुभव या प्राप्ति करेगा तो तू बहरा और अन्धा ही कहलायेगा। जैसा ऋग्वेद में कहा भी है कि—

उस परब्रह्म को देखते हुए भी नहीं देख रहा सुनते हुए भी नहीं सुन रहा।[25]

---

२२. शास्त्रयोनित्वात्। —वे० सू०—१.१.३.

२३. ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिम् परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह।
—अथर्व० सं०—११.५.७.

२४. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्। —वही—११.५.११.

२५. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
—ऋग० सं०—१०.७१.४.

पूर्वकाल के सद्‌गुणों से पूरित ऋषियों ने जिन श्रोत्रों द्वारा इस ओदन का प्राशन किया है उससे यदि अन्य अर्थात् भिन्न प्रकार के श्रोत्रों द्वारा इस ओदन का तूने प्राशन किया है तो तू बहरा हो जायेगा। यह इस श्रोता को ज्ञानी कहे। उस ओदन को निश्चय से न इधर गति करते हुए को, न दूर के लोकों में गति करते हुए को, न प्रतीक अर्थात् प्रतिकूल भाव में रहते हुए को मैंने प्राशित किया है। उन द्वारा इस को मैंने प्राप्त किया है। निश्चय से यह ब्रह्मोदन सर्वांग सम्पूर्ण है सब सन्धियों अर्थात् जोडों से युक्त है। सम्पूर्ण शरीर वाला है जो श्रोता इस प्रकार ब्रह्मोदन को जानता है, वह भी सर्वांग सम्पूर्ण, सब सन्धियों अर्थात् जोड़ों से युक्त सम्पूर्ण शरीर वाला हो जाता है।[२६]

श्रोत्रों द्वारा ब्रह्म के गुणों का श्रवण होने से मन्त्र में श्रोत्रों का द्युलोक और पृथिवी लोक के रूप में वर्णन हुआ है। द्युलोक और पृथ्वी लोक के अन्दर नानाविध ध्वनियां, शब्द और शोर हो रहे हैं श्रोत्रों से शब्द या ध्वनियों का श्रवण होने से द्यावा पृथिवी में भी शब्द रहते हैं क्योंकि शब्द आकाश का गुण है। और द्यावा पृथिवी में अवकाशात्मक आकाश विद्यमान है। परन्तु ये दोंनों इनसे प्रभावित न होते हुए, निर्विकार रूप में वर्तमान रहते हैं। द्यावा पृथिवी रूप निर्विकार श्रोत्रों द्वारा ब्राह्मी श्रुतियों का श्रवण न किया तो समझना कि श्रोत्रों के होते हुए भी तू आध्यात्मिक श्रोत्रों से बधिर है।

पूर्व मन्त्र की ही भाँति सूर्य चन्द्र रूपी आंखों द्वारा सम दृष्टि से देखने पर ही ब्रह्म की प्राप्ति वर्णित है।[२७]

---

२६. ततश्चैनं अन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीयर्भ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। बधिरो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। द्यावा पृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्यां। ताभ्यामेने प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरूः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरूः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद। —अथर्व सं०—११.३.३३.

२७. अथर्व० सं०—११.३.३४.

अन्य मन्त्र में सत्यब्रह्म में दृढ़ स्थित होकर ओदन के प्राशन का वर्णन है। ऐसा नहीं होगा तो प्राशनकर्त्ता आश्रय रहित होकर मृत्यु का ग्रास बनेगा। और यदि सत्य का जीवन में अनुकरण कर अथवा सत्यमय जीवन को निर्मित कर ब्रह्मोदन का प्राशन करेगा तो इस विधि द्वारा जन्म मरण की श्रृंङ्खला से मुक्त हो जाएगा।[२८]

जीवन का लक्ष्य उस सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थिति पा जाना ही मुख्य अभिप्रेत है। उसमें आनन्द का अथाह सागर है और हम मनुष्यों की मर्त्यलोक में आनन्द के अभाव में, मछली की जो स्थिति पानी से बाहर आने पर होती है। वही स्थिति है जो भी व्यक्ति कर्म कर रहा है उसी आनन्द की प्राप्ति के लिए कर रहा है, किन्तु वह उन सासांरिक पदार्थों में प्राप्तव्य न होने से और क्षणिक सुख की उपलब्धि से आंशिक सन्तोष अनुभव करता है परन्तु फिर वह अन्य वस्तु में सुख समझकर उसके प्रति आकृष्ट होता है। इसी चक्र से निस्सरण नहीं कर पाता। और जो व्यक्ति इससे निकल जाता है वह उस आनन्द की प्राप्ति के लिए उपर्युक्त समस्त प्रयत्न कर उस लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है और आनन्दित होता है। यही परम लक्ष्य के विषय में अथर्ववेद के एकादश काण्ड का सार है।



---

२८. वही—११.३.४६.

उपसंहार

प्रस्तुत पुस्तक में अथर्ववेद के ग्यारहवे काण्ड का आध्यात्मिक विवेचन किया गया है। जिस प्रकार से अथर्ववेद के अन्य काण्डों में आध्यात्मिक सामग्री उपलब्ध होती है उसी प्रकार ग्यारहवां काण्ड भी आध्यत्मिक विचारों से परिपूर्ण है। और इसकी ब्रह्मवेद संज्ञा को सार्थक करता है।

अथर्ववेद में अध्यात्म से सम्बन्धित ईश्वर,[1] जीव,[2] प्रकृति,[3] पुनर्जन्म,[4] कर्म व्यवस्था,[5] जीवात्मा का साक्षात्कार,[6] कर्मों द्वारा विविध योनियां[7] आदि अनेक विषयों का सप्रमाण विवेचन प्रतिपादित किया है। अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र[8] द्वारा तीन और सात संख्याओं का सांख्य दर्शन के आधार पर विवेचन किया गया है। ईश्वर, जीव और प्रकृति का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है, ईश्वर जीवों पर शासन करता है तथा प्रकृति को व्यवस्थित गति प्रदान करता हुआ नियन्त्रण में रखता है। प्रकृति जीवों के उपभोग के लिए है। जीव किस रूप में प्रकृति का भोग करता है, यह बात प्रत्येक जीव के विवेक पर आश्रित है। अतः जीव भोक्ता है, तथा ईश्वर न्याय के अनुसार जीव को उपभोग रूप फल प्रदान करता है। परमेश्वर ने (जिसको विभिन्न नामों द्वारा वेद में वर्णित किया गया है) सृष्टि की उत्पत्ति की है किसी भी वस्तु के निर्माण के लिए तीन वस्तुओं की प्रमुखता से आवश्यकता होती है।

१. कर्त्ता, जो निर्माण का ज्ञान रखता है, और निर्माण करता है।

२. भोक्ता, जिसके लिए वस्तु का निर्माण किया जाता है।

---

१. अथर्व सं०—२.१.१.
२. वही—६.६.४.
३. वही—१०.८.८३.
४. वही—१०.८.२७.
५. वही—६.१०.१०.
६. वही—६.१०.११.
७. वही—१८.२.७.
८. वही—१.१.१.

३ भोग्य, जिस वस्तु का निर्माणोपरान्त उपभोग होना है, वह वस्तु।

इन्हीं तीनों को क्रमशः ईश्वर ने जीव के शुभाशुभ कर्मों के फल का उपभोग कराने के लिए प्रकृति का (जो वर्तमानावस्था में विकृति रूप है) निर्माण किया जाता है।

ईश्वर तप रूप कर्म करता है, तथा अपनी 'ईक्षण शक्ति' से प्रकृति के द्वारा पूर्वकल्प के ज्ञानानुसार (यह क्रम अनादि है) सृष्टि रूप घडे का निर्माण करता है।

ईश्वर में प्रलय काल में सब जन्य वस्तुओं का भाव होते हुए भी सर्ग काल का समय आने पर उसकी स्वाभाविक ईक्षण रूपी इच्छा जब होती है तब सृष्टि का निर्माण होता है। अन्यथा उसकी ईक्षण शक्ति के अभाव में सर्गारम्भ ही न हो। अतः उसकी ईक्षण शक्ति ही सृष्टि की उत्पत्ति में निमित्त कारण होने से ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति का प्रमुख अथवा निमित्त कारण है। और प्रकृति के सत्त्व रजस, तमस् तीन गुण तथा परमाणु उपादान कारण कहे गए हैं।

ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता के रूप में भव, शर्व और रूद्र रूप में वर्णित किया है। भव का अर्थ व्याप्ति को दृष्टि में रखकर किया है कि जो होता है सर्वत्र होता है, सदा होता है, वह सर्वत्र व्यापक भव रूप ब्रह्म ही है। उत्पत्ति को दृष्टि में रखकर भव सृष्टि के आदि में सब वस्तुओं को उत्पन्न करता है तथा सृष्टि के पश्चात् भी जो जन्य है वह भी भव रूप जनक का ही कार्य है। शर्व–जो प्रलय काल से पूर्व सब जगत् का विनाश करता है वह शर्व है।

रूद्र–जो जीवों के शुभाशुभ कर्मों के परिणाम जनित अशुभ फलों को प्रदान करने पर जीवों को रूलाता है, वह रूद्र है।

यहां पर पौराणिक मान्यता के (ब्रह्मा उत्पत्ति करने के कारण, विष्णु पालने करने से, तथा महेश संहार करने से) ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड में) (भव उत्पत्ति करने के कारण, रूद्र दण्ड द्वारा पालन करने के कारण, तथा शर्व संहार करने से) भव, रूद्र और शर्व कहे गए हैं।

जिस प्रकार शारीरिक जीवन को प्राप्त करने के लिए ओदन की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार आत्मिक उन्नति अथवा शक्ति के विकास के लिए ब्रह्मरूप ओदन की आवश्यकता है।

जैसे शरीर में चेतन तथा शरीराङ्गावयव है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में ब्रह्म रूपी चेतन शक्ति तथा ब्रह्माण्डाङ्गावयव रूप परमेश्वरीय शरीर का वर्णन हुआ है। जो उसकी विशालता और सूक्ष्मता का परिचायक है। इस प्रकार इसमें प्रेरणा दी गई है कि उसके सर्वाधिक विशाल और सूक्ष्म रूप को दृष्टि में रखकर मनुष्य अहं भाव को छोड़कर शुभ कर्मों का ही सम्पादन करता रहे जिस प्रकार मनुष्यों में ही किसी के स्थूल तथा दृढ़ काय शरीराङ्गों को दृष्टि में रखकर उससे अल्प दृढ़ शरीराङ्गों वाले अन्य प्राणी भय खाते हैं और उसके सामने वैसा ही आचरण करते हैं जैसा वह चाहता है, उसी प्रकार ब्रह्म के अवयवों की शक्ति को देखकर मनुष्य को भय भी उचित वेद निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करना अपेक्षित है।

जिस प्रकार लोक में पुत्र पिता के कर्मों का अनुकरण करता है और पिता भी कर्म करने का उपदेश पुत्र को करता है, तथा पिता के कर्म करने को पुत्र देखता है, उसी प्रकार समस्त जीव रूप पुत्रों का परब्रह्म रूप पिता अपने सृष्टि की उत्पत्ति रूप कर्म को करके पुत्रों को उपदेश देता है कि तुम लोग भी नवीन कर्मों का सृजन करो। शुभ कर्मों के सम्पादन से शुभ फल की ही प्राप्ति सुनिश्चित जानो। क्योंकि सृष्टि का निर्माण दो ही कारणों से किया गया है—प्रथम जीवों के कर्मजनित परिपक्व फल भोगने के लिए तथा द्वितीय शुभ कर्म करने के लिए ।

अतः मनुष्य को सदैव शुभ कर्मों को करने के लिए सतत प्रयासरत रहना चाहिए। जिससे पुण्य कर्मों द्वारा पुण्य लोक की ही प्राप्ति हो। पुण्य लोक की प्राप्ति के लिए महान् तप करना पड़ता है। और जब कर्म उद्देश्य पूर्ति के निमित्त सम्यक् पथ का अनुगमन करता और उसमें जो द्वन्द्व उपस्थित होते हैं उनको भी विद्वान् सहन कर आगे पग बढ़ाता है तब वही कर्म तप रूप में सम्मुख आता है। उसी कर्म रूप तप से समस्त पुण्य लोक प्राप्त होते हैं।

कर्मों को करने के लिए परमेश्वर ने जिस रूप में शरीराङ्ग हैं उस रूप में शरीर के अंग अर्थात् इन्द्रियां न निर्मित की होतीं तो कर्म करना सम्भव न था। कर्मों के कारण ही पांच इन्द्रियों का नाम कर्मेन्द्रिय पड़ा। कर्म बिना सम्यक् ज्ञान के अन्धे के अग्रणी होने के समान गर्त्त में गिराने वाला होता है। उसी प्रकार कर्मेन्द्रियों को सम्यक् कर्म की प्रेरणा और ज्ञान देने के लिए पांच ही ज्ञानेन्द्रियां है जो निरन्तर कर्मेन्द्रियों को ज्ञान देकर उचित–उचित कर्म करने के लिए प्रेरित करती रहती हैं तथा कर्मेन्द्रियों का आधार हैं। ऐसे ही बिना कर्मेन्द्रियों के ज्ञान की अनभिव्यक्ति के कारण ज्ञानेन्द्रियां व्यर्थ होती हैं। अतः ये दोनों एक दूसरे का सहयोग करती हुई सम्यक् जीवन को सम्पादित करती हैं।

अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के अनुसार शुभ कर्म का शुभ फल और अशुभ का अशुभ फल मिलता है।

एक मन्त्र में[६] कुछ अस्पष्ट सा संकेत प्राप्त है कि तीन वर्ष के अन्दर अत्यधिक उत्कृष्ट कर्म का फल अथवा निम्न कर्म का फल अवश्य प्राप्त हो जाता है। इस मन्त्र में 'त्रैहायनात्' शब्द इस बात का द्योतन करता है।

अब से तीन वर्ष पूर्व जो अनृत भाषण किया हो, व्यापक प्रभु उसे फल प्रदान द्वारा विनष्ट कर दे तथा अन्य दुष्फलों से भी बचाए, अनृत भाषण का फल सुफल नहीं हो सकता। अतः दुष्परिणाम जन्य कष्टों का अनुभव कर मनुष्यों को अनृत भाषण के ही तुल्य अन्य अनेक निन्दनीय अपकीर्तिकर कर्मों का परित्याग करना ही अभीष्ट व श्रेयस्कर है।

जीवन की प्राप्ति का भी एक लक्ष्य है, जिस प्रकार संसार में उत्पन्न प्रत्येक मनुष्य के कर्मों का लक्ष्य होता है उसी प्रकार एक अप्रत्यक्ष अथवा परोक्ष लक्ष्य भी होता है, उसी को जीवन लक्ष्य रूप में निर्दिष्ट किया गया है, उसे मोक्ष, स्वर्ग, नाक, अपवर्ग आदि नामों से कहा जाता

---

६. यदवाचोम त्रैहायनादनृतं किं चोदिम। आपा वा तस्मात् सर्वस्मात् दुरितात् पातवहंसः। वही – (१०.५.२२)

है। इन सभी में अलौकिक आनन्द की प्राप्ति का वर्णन है। जिसे गाढ़ निद्रा से उपमित सुख अथवा आनन्द कहा गया है। तथा समाधि के भी सुख को उस परमोत्कर्ष रूप आनन्द का क्षणिक भान कहा है। भिन्नता केवल इतनी ही है कि सुषुप्ति का आनन्द शरीर सहित तथा ज्ञान रहित होता है। और समाधि का आनन्द शरीर, ज्ञान सहित आनन्द है परन्तु मोक्ष का आनन्द शरीर रहित, ज्ञान सहित चिरस्थायी होता है। वही मोक्षानन्द है।

ब्रह्मौदन की प्राप्ति भी इसी कारण कही गई है कि वह ब्रह्म सच्चिदानन्द है। परन्तु जीव सच्चित् होते हुए भी आनन्द से रहित है और उसी आनन्द के अभाव को नित्यशः अनुभव करता हुआ कर्मों में रत रहता है, परन्तु आनन्द अलौकिक होने से लोक में प्राप्तव्य नहीं है वह तो ब्रह्मानन्द में ही है। उसी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य निर्धारित है।



सहायक ग्रन्थ सूची

अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा), मूल, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।

अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा), मूल, गुरुकुल गौतम नगर, नई दिल्ली–४६।

अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा), मूल, स्वाध्याय मण्डल पारडी, सूरत।

अथर्ववेद संहिता (सुबोध भाष्य), श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी सूरत।

अथर्ववेद संहिता (सनातन भाष्य), श्री कण्ठ शास्त्री, माधव प्रकाशन, कमलानगर, दिल्ली–११०००७।

अथर्ववेद संहिता (अध्यात्मिक भाष्य), प्रो० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (हरियाणा) (१६८३)

अथर्ववेद संहिता (भाष्य), आचार्य सायण, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर (१६६१)

अथर्ववेद संहिता (भाष्य), श्री जयदेव शर्मा, आर्ष साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर (सं० २०१४)

अथर्ववेद (भाष्य),पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली।

अथर्ववेद परिचय, प्रो० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड, दयानन्द संस्थान करोल बाग, नई दिल्ली–५ (१६७४)

उणादि कोश (भाष्य), स्वामी दयानन्द, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (हरियाणा)

ऋग्वेद संहिता (मूल), स्वाध्याय मण्डल पारडी, सूरत

ऋग्वेद संहिता (भाष्य), स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, स्वामी दयानन्द, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली

ऐतरेय ब्राह्मण (हिन्दी अनुवाद), गंगा प्रसाद उपाध्याय।

कठोपनिषद् (भाष्य), नारायण स्वामी, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, दिल्ली

कठोपनिषद् (भाष्य), आचार्य शंकर, गीताप्रेस, गोरखपुर

कौशिक सूत्र–मौरिस ब्लूमफील्ड

गीता (भाष्य), आचार्य शंकर, गीताप्रेस, गोरखपुर

गोपथ ब्राह्मण (भाष्य), पं० क्षेमकरण दास त्रिवदी, अथर्ववेद–भाष्य कार्यालय, ३४ लूकरगंज, इलाहाबाद, (१६७७)

छान्दोग्योपनिषद् (भाष्य), आचार्य शंकर, गीताप्रेस गोरखपुर

छान्दोग्योपनिषद् (भाष्य), शंकर देव काव्यतीर्थ, गुरूकुल झज्जर, (हरियाणा)

तैत्तिरीय आरण्यक (भाष्य), आचार्य सायण, आनन्द आश्रम ग्रन्थावलि

तैत्तरीयोपनिषद (भाष्य), आचार्य शंकर, गीताप्रेस, गोरखपुर

तैत्तिरीय ब्राह्मण (भाष्य), आचार्य सायण, आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना

न्याय सूत्र (भाष्य), वात्स्यायन (हिन्दी अनुवाद : स्वामी द्वारिकानाथ शास्त्री) भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी

निघण्टु (संपादक), युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (हरियाणा)

निरूक्त (भाष्य), ब्रह्ममुनि, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

निरूक्त (भाष्य), चन्द्रमणि विद्यालंकार, गुरूकुल झज्जर (हरियाणा)

निरूक्त (भाष्य), दुर्गाचार्य, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

पाणिनीय धातुपाठ, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (हरियाणा)

पाणिनीय धातुपाठ, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

प्रश्नोपनिषद् (भाष्य), नारायण स्वामी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

प्रश्नोपनिषद् (भाष्य), आचार्य शंकर, गीताप्रेस, गोरखपुर

बृहदारण्यकोपनिषद (भाष्य), आचार्य शंकर, गीताप्रेस गोरखपुर

बृहदारण्यकोपनिषद् (भाष्य), शंकरदेव काव्यतीर्थ, गुरूकुल झज्जर, (हरियाणा)

भारतीय दर्शन, डा० उमेश मिश्र, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

सहायक ग्रन्थ सूची

महाभाष्य गुरुकुल झज्जर (हरियाणा,

मनुस्मृति, आर्ष सहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली

मुण्डकोपनिषद (भाष्य), आचार्य सायण, गीताप्रस गारखपुर

मुण्डकोपनिषद (भाष्य), नारायण स्वामी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली

यजुर्वेद सहिता (मूल), वैदिक यन्त्रालय, अजमर

यजुर्वेद सहिता (भाष्य), स्वामी दयानन्द वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

योग सूत्र(भाष्य) व्यास, हिन्दी, राजवीर शास्त्री, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली

वेदान्त सूत्र (भाष्य), आचार्य शकर, मोतीलाल बनारसी दास कमलानगर दिल्ली–७

वैशेषिक सूत्र (भाष्य), प्रशस्तपाद मोतीलाल बनारसी दास कमलानगर दिल्ली

शतपथ ब्राह्मण (भाष्य), हिन्दी अनुवाद, गगा प्रसाद उपाध्याय

शतपथ ब्राह्मण (भाष्य), आचार्य सायण, वेंकटेश्वर प्रस, बम्बई

श्रीमद्भागवत्, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्वेताश्वेतरोपनिषद् (भाष्य), आचार्य शकर, गीताप्रस गोरखपुर

सत्यार्थ प्रकाश, स्वामी दयानन्द, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली

साख्य सूत्र (भाष्य), ब्रह्ममुनि, गुरुकुल झज्झर, (हरियाणा)

साख्य सूत्र (भाष्य), उदयवीर शास्त्री, गोविन्दराम हासानन्द, नई सडक दिल्ली

साख्य सूत्र (टीका), विज्ञानभिक्षु भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी



Distributed by :-

PARIMAL PUBLICATIONS
27/28, SHAKTI NAGAR
DELHI 110 007 (India)